ISSN : 2278:0912

❖ ओ३म् ❖

ज्योतिष्कृणोति सूनरी

आर्ष-ज्योतिः

श्रीमद्दयानन्दवेदार्ष-महाविद्यालय-न्यासस्य

द्विभाषीय-अन्ताराष्ट्रिय-मूल्याङ्कित-शोधपत्रिका

चैत्र-वैशाखमासः, विक्रमसंवत् - २०७४ / अप्रैलमासः-२०१७

वर्षम् - ९ :: अङ्कः - १०६

मूल्यम्- रु. ५ प्रति, वार्षिकम्-५०

❖संरक्षकाः❖
स्वामी प्रणवानन्दः सरस्वती
कै. रुद्रसेन आर्यः
प्रो.पीयूषकान्तदीक्षितवर्याः
श्रीगिरीश-अवस्थीवर्याः

❖परामर्शदातृमण्डलम्❖
डॉ. रघुवीरवेदालङ्कारः
प्रो. महावीरः
आचार्ययज्ञवीरवर्याः
श्रीचन्द्रभूषणशास्त्री

❖मुख्यसम्पादकौ❖
डॉ. धनञ्जय आर्यः
रवीन्द्रकुमारः

❖कार्यकारी सम्पादकः❖
ब्र. शिवदेवार्यः

❖व्यवस्थापकाः❖
ब्र. अनुदीपार्यः
ब्र. कैलाशार्यः

❖कार्यालयः❖
श्रीमद्दयानन्द-आर्ष-ज्योतिर्मठ-गुरुकुलम्
दूनवाटिका-२, पौंधा,
देहरादूनम् (उत्तराखण्डः)
दूरवाणी - ०९४११११०६१०४,८८१०००५०९६
website: www.pranwanand.org
E-mail : arsh.jyoti@yahoo.in

विषय-क्रमणिका

विषयः	लेखकः	पृ.सं.
सम्पादक की कलम से		०२
आत्मीय निवेदन	- *आचार्य डॉ० धनञ्जय*	०५
वेदों में मानव के अधिकार....	- *डॉ० कंवर सिंह*	०६
आर्यसमाज के नियमों...	- *आचार्य डॉ० धनञ्जय*	०९
कौण्डभट्ट विरचित पदार्थदीपिका..	- *डॉ० विश्वेश*	१२
पदसंज्ञा विर्मश	- *निखिल आर्य*	१६
संस्कृतभाषा की वाच्यव्यवस्था	- *चमन कुमार*	२२
यज्ञे मिथ्यापशुहिंसा	-*गौरवार्यः*	२६

चलो, चलें गुरुकुल पौन्धा...

२, ३ एवं ४ जून को गुरुकुल पौन्धा, देहरादून का वार्षिकोत्सव हर्षोल्लास के साथ आयोजित किया जा रहा है, आप सभी सादर आमन्त्रित हैं।

न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः

लेख में प्रकट किए विचारों के लिए लेखक उत्तरदायी है।

प्रकाशनतिथि- ४ अप्रैल २०१७ :: डाकप्रेषणतिथि- ८ अप्रैल २०१७

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

सम्पादक की कलम से...

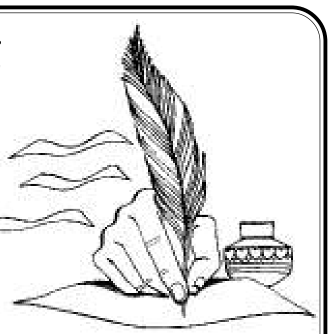

अघ्न्या न हन्तव्या भवति

प्रायः लोग बिना कुछ सोचे समझे बात करते हैं कि वेदों में गो-वध तथा गो-मांस खाने का विधान है। क्षणिक स्वार्थ व लाभ के लिए वेद व गोमाता का नाम अपवित्र करने का प्रयास अक्षम्य है, पुनरपि स्वार्थवश लेशमात्र भी संदेह है तो प्रस्तुत वेद मन्त्रों को समझ सकते हैं -

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्ती शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः। मा वस्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥ (अथर्व.)

मन्त्र का देवता 'अघ्न्या' है। अघ्न्या गाय का मुख्य नाम है। **अघ्न्या न हन्तव्या भवति** अर्थात् गाय वधनीय नहीं है। मनुष्य के लिए सर्वाधिक उपकारी पशु गाय जिसे हम माता कहते हैं, उसे मारना पाप ही नहीं अपितु महापाप है।

मन्त्र में कहा गया है कि - हे मनुष्यों! तुम्हारे घरों में प्रजावतीः उत्तम सन्तान वाली, सुयवसे (जौ) के क्षेत्रों मे चरने वाली और शुद्ध जलों को पीने वाली गौ हो और इसकी सुरक्षा ऐसी हो कि कोई चोर उन्हें चुरा न सके और पापी डाकू आदि गाय को अपने वश में न कर सके । रुद्र परमात्मा की हेति=वज्रशक्ति तुम्हारे चारों तरफ सदा विद्यमान रहे।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामः।। (अथर्व.-१.१६.४)

अर्थात् राजन्! यदि कोई मनुष्य हमारी गाय, अश्व आदि पशुओं को मारता है, उस हत्यारे को (सीसेन) कारागार या कठोर दण्ड देकर हमारी रक्षा करो।

पयः पशूनां रसमोषधीनाम्।
बृहस्पतिः सविता मे यच्छतात्।।
-अथर्व.-१९.३१.५

अर्थात् हे सर्वोत्पदाक परमेश्वर! हम सब को जीवन निर्वाह के लिए गाय का दूध और औषधियों का रस भोजन के लिए प्रदान करो।

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः।
इन्द्राग्नी ताभि सर्वाभी रुचं नो धत्तबृहस्पते।।
-यजु.-१३.२३

अर्थात् गो, अश्व आदि प्राणियों से सदैव प्रीति किया करें।

घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभिरक्षताद् इमान् स्वाहा।। (यजु.-३५.१७)

अर्थात् हे (अम्बे) राजन्! जैसे पिता अपने पुत्रों की रक्षा करता है वैसे आप गाय के मधुर और रोगनाशक दूध, घृत आदि की व्यवस्था कर हमारी रक्षा करें।

दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽन...........जायताम्।

प्रस्तुत मन्त्र में राष्ट्रिय प्रार्थना है - हमारे देश में प्रचुर दूध देने वाली गौएँ भार ढ़ोने में समर्थ तथा कृषि के योग्य बैल और यानों में सक्षम और शीघ्रगामी घोड़े पैदा हों।

इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्त्राक्षो मेधाय चीयमानः। मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद। मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु।। (यजु.-१३.४७)

मन्त्र में परमपिता परमेश्वर मनुष्य को आदेश देता है कि सबके उपकार करने हारे गवादि पशुओं को कभी न मारें, किन्तु इनकी अच्छी प्रकार से रक्षा कर और इनसे उपकार लेके सब मनुष्यों को आनन्द देवे।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे
व्योमन्। गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन
चिन्वानस्तन्वे निषीद।
गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥

ऋषिवर देव दयानन्द जी प्रस्तुत मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं कि- हे राजपुरुषों! तुम लोगों को चाहिए कि जिन बैल आदि पशुओं के प्रभाव से खेती आदि काम, जिन गौ आदि से दूध घी आदि उत्तम पदार्थ होते हैं कि जिन के दूध आदि से प्रजा की रक्षा होती है, उनको कभी मत मारो और जो जन इन उपकारक पशुओं को मारें, उनको राजादि न्यायाधीश अत्यन्त दण्ड देवें।

वेदों में कहा है - **गोस्तु मात्रा न विद्यते** (यजु.-२३.४८) अर्थात् गाय इतना अधिक महत्त्वपूर्ण पशु है जिसकी तुलना करना सम्भव ही नहीं है। गाय का दूध अमृत होता है और इसका मूत्र व गोबर भी रोग निवारक और सर्वोत्तम खाद है। कृषि प्रधान भारत के लिए तो इसका महत्त्व अत्यधिक हो जाता है।

मानव सभ्यता के लिए गोमाता के उपकारों का विवेचन स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी **'गोकरुणा-निधि'** नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया। गायों की नृशंस हत्या को देखकर ऋषि दयानन्द के जीवन में अनेक प्रसंग ऐसे आते हैं जिन अवसरों पर ऋषि दयानन्द के अश्रु बह उठे।

स्वामी दयानन्द जी गोमाता के वध पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए दो करोड़ भारतवासियों के हस्ताक्षर कराकर ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया को प्रतिवेदन करते हुए कहा था - **'बड़े उपकारक गाय आदि पशुओं की हत्या करना महापाप है, इसको बन्द करने से भारत देश फिर समृद्धिशाली हो सकता है। गाय हमारे सुखों का स्रोत है, निर्धन का जीवन और धनवान् का सौभाग्य है। भारत देश की खुशहाली के लिए यह रीढ़ की हड्डी है।'** स्वामी जी ने पशुओं की हत्या को देखकर महारानी विक्टोरिया को प्रतिवेदन भेजा था।

अनेक राजा, महाराजाओं से विनति करके महर्षि दयानन्द ने संसार के अधिपति परमेश्वर से भी प्रार्थना की-' **हे परमेश्वर! तू क्यों इन पशुओं पर, जो कि बिना अपराध (के) मारे जाते हैं, दया नहीं करता? क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं? क्या उनके लिए तेरी न्याय सभा बन्द हो गई है? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता और उनकी पुकार नहीं सुनता? क्यों इन मांसाहारियों के आत्मा में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता? जिससे यह इन बुरे कामों से बचें।'** (गोकरुणानिधि)

भारत जैसे कृषिप्रधान देश में आर्थिक दृष्टि से गाय का महत्व स्पष्ट ही है। जिन लोगों ने ग्राम्यजीवन को जीया अथवा देखा है वे सभी एक स्वर से गो की उपयोगिता स्वीकार करेंगे। गोधन ही हमारा प्रधान धन है। इस धन के बिना हम अर्थ होते हुए भी निर्धन हैं। ये धन हमें जीना सिखाता है तथा जीवन के प्रत्येक श्रण में उन्नति के पथ पर अग्रसरित करता है। गाय का प्रत्येक अंश समस्त सृष्टि के लिए उपयोगी है। गाय का दूध बौद्धिक व शारीरिक क्षमता को सुदृढ़ करता है, वहीं गो-मूत्र ओषध रुप में शारीरिक रोगप्रतिरोधी क्षमता को तीव्र करता है। कृषि कार्य में गाय का गोबर व मूत्र खाद के रूप में प्रयोग कर उन्नत कृषि का विस्तार किया जा सकता है।

संसार में प्रत्येक जीव व पदार्थ उपयोगी हैं, हमें उनका सम्यक्रुपेण प्रयोग करना आना चाहिए। जो गाय का वध करते हैं यदि वे गाय का पालन-पोषण करें तो वो शारीरिक, आर्थिक व धार्मिक रुप से अधिक सुदृढ़ हो सकते हैं। क्योंकि गाय के मांस को बेचने में लगभग ५०,००० रुपये का आर्थिक लाभ तो प्राप्त होगा किन्तु कर्म की दृष्टि से बहुत पाप होगा। जबकि एक गाय को पालने से बहुत लाभ होगा। एक गाय को पालने से वह वर्ष में छः महिने दूध देगी, एक सामान्य गाय एक दिन में लगभग ८ लीटर दूध देगी। छः महिनों में गाय का दूध

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

१४६० लीटर होगा, जिसकी वर्तमान कीमत (४५ रुपये न्यूनतम लीटर) के अनुसार ६५,७०० रुपये होगें। इसके साथ ही गो-मूत्र भी आयुर्वेदिक फॉर्मेसियाँ खरीदती हैं। एक गाय एक दिन में लगभग ६ लीटर मूत्र विसर्जित करती है, वर्ष भर में २१९० लीटर गो-मूल प्राप्त होगा, जिसकी वर्तमान किमत (५ रुपये लीटर) के अनुसार १०,९५० रुपये होगें। साथ ही गोबर की खाद तैयार की जाती है, जिसकी वर्षभर की किमत लगभग १०,००० होगें। अर्थात् १ वर्ष में एक गाय से ९०,००० रुपये की आय प्राप्त होगी। और १ गाय पर १ दिन का खान-पान साहित व्यय १०० रुपये होगा अर्थात् १ वर्ष में ३६,५०० रुपये का व्यय होगा। अर्थात् ५३,५०० रुपये का सीधे-सीधे लाभ प्राप्त होगा। और इससे अन्य गाय के बच्चे भी होंगे। ये क्रम ७ से ८ बार तक चलता है। अर्थात् एक गाय से लगभग ५,०००,०० रुपये की आय तथा पुण्य सहित अनेक लाभ भी प्राप्त होंगे। अत: समाज में गोवध की प्रक्रिया को समाप्त कर गोसंवर्धन का आरम्भ किया जाना चाहिए।

तथाकथिक बुद्धिवर्ग का मन्तव्य है कि पशुओं को मानने में कोई अधर्म नहीं होता। जो अधर्म मानता है वह न खाये, हमारे मत में अधर्म नहीं होता। अत: मांसाहार करना अनुचित नहीं हैं। यह बात पूर्णतया असत्य है, क्योंकि धर्म-अधर्म किसी के मानने अथवा न मानने से नहीं होता अपितु हानि अथवा हिसां करना अधर्म और परोपकार करना धर्म होता है। चोरी जारी इसलिए अधर्म होता है कि इससे दूसरे की हानि होती है। अत: लाखों पशुओं के मारने में अधर्म और उन्हें सुख देने में धर्म स्वभाविक ही है। अब कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि जो पशु काम में आते हैं उन्हें मारना अधर्म है परन्तु जब बूढ़े हो जायें अथवा स्वयं मर जायें तो उनका मांस खाने में कोई दोष नहीं। परन्तु उन्हें विचार करना चाहिये-कि जब तुम्हारे माता-पिता बूढ़े हो जायें, तो क्या उन्हें भी मार देना चाहिये। क्या ऐसा करने से कृतघ्नता रूपी महापाप नहीं होगा। इसी प्रकार जिन गाय, बैल आदि पशुओं से जीवन भर लाभ लिया, उनसे अमृत जैसा दूध व अन्न प्राप्त किया, और इधर-उधर आने-जाने में भार ढोने का काम लिया, क्या उनकी हत्या करने में पाप नहीं होगा और कृतघ्नता तो महापाप है। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी गोकरुणानिधि में इसके उत्तर में लिखते हैं कि **'जो मरे पश्चात् उनका मांस खावे तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से अवश्य हिंसक होके हिंसारूपी पाप से कभी नहीं बच सकेगा, इसलिए किसी अवस्था में भी मांस नहीं खाना चाहिए।'** अत: माँसाहार करना सर्वथा अनुचित ही नहीं अपितु निषेधनीय भी है। हम गाय को अपनी माता स्वीकार करते हैं, एतदर्थ माता की रक्षा करना हमारा कर्तव्य भी होता है। आज आवश्यकता है हम सब लोग गोरक्षा के लिए आगे आयें, क्योंकि गोरक्षा से ही राष्ट्र यथार्थ उन्नति के पथ पर अग्रसरित हो सकेगा।

-शिवदेव आर्य
गुरुकुल पौन्धा, देहरादून
मो.-८८१०००५०९६

गौ-करुणक्रन्दन

दॉन्तों तले तृण दबाये दीन गाय कह रहीं,
'हम पशु तथा तुम हो मनुज, पर योग्य क्या तुमको यही?
हमने तुम्हें मॉ की तरह है दूध पीने को दिया,
देकर कसाई को हमें तुमने हमारा वध किया॥
-राष्ट्रिय कवि मैथलीशरण गुप्त

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

आत्मीय निवेदन

❑ आचार्य डॉ. धनञ्जय.....✍

प्रिय पाठकों ! आप सबको विदित है कि गुरुकुल पौन्धा को प्रगतिशील होते हुए १७ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इन सोलह वर्षों में इस छोटी सी संस्था ने अनेक उपलब्धियाँ अर्जित की हैं। शिक्षा, क्रीड़ा, व्यवहार प्रत्येक क्षेत्र में इस संस्था ने आर्षन्यास एवं स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती जी के परिश्रम को सफल सिद्ध किया है। विगत १७ वर्षों की व्यापक उन्नति एवं प्रगति को देखकर ही आर्य जनता की श्रद्धा का पात्र यह गुरुकुल एक भव्य एवं सुन्दर स्थल पर है। इस संस्था को १७ वाँ वर्ष व्यतीत होने के उपलक्ष्य में हम इस संस्था का स्थापना दिवस एवं वार्षिक उत्सव **२, ३ एवं ४ जून २०१७** शुक्र, शनि एवं रवि को बड़े हर्ष एवं उल्लास से मनाने जा रहे हैं जिसमें आपको छात्रों के सुन्दर-सुन्दर कार्यक्रम एवं भारत के प्रसिद्ध उपदेशकों के मनोहर वचनामृत सुनने का अवसर प्राप्त होगा। मेरा सभी आर्यसमाजों, आर्यप्रतिनिधियों एवं आर्यजनता के समक्ष विनम्र निवेदन है कि प्रति वर्ष की भाँति आप सबका आशीर्वाद फिर इस वर्ष हमें बढ़-चढ़कर प्राप्त होगा। आप सभी आर्य लोगों के आशीर्वाद से ही हम जैसे ऋषिमिशन के कार्यकर्ताओं को उत्साह एवं प्रेरणा प्राप्त होती है। हम आप सभी से आत्मनिवेदन करना चाहेंगे कि आप अकेले ही नहीं अपितु अपने परिवार के साथ, परिवार के साथ ही नहीं अपितु सम्पूर्ण इष्ट मित्रों के साथ आप अपना अमूल्य समय हमें प्रदान करेंगे। कार्यक्रम के अन्तर्गत आप सबको आवासादि की प्रदेय व्यवस्था गुरुकुल की ओर से प्राप्त होगी। तीन दिवसीय इस कार्यक्रम में आप तन, मन, धन से हमारा सहयोग करेंगे, ऐसी हमारी आप से आशा है। मुझे आशा है कि मेरी इस प्रथम विनती पर आप अवश्य ही ध्यान देंगे।

द्वितीय निवेदन यह है कि गुरुकुल में वर्तमान में सौ से अधिक विद्यार्थी अध्ययनरत हैं, जिन्हें वेदशास्त्र, दर्शन, उपनिषद् आदि की नाममात्र शुल्क पर शिक्षा प्रदान की जा रही है। वर्तमान में खेतों से अन्न उठाने का समय चल रहा है। मेरी प्रार्थना है कि आप अपनी इस पवित्र कमाई से अवश्य ही गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के लिए कुछ अन्न अवश्य प्रदान करें, क्योंकि आपकी पवित्र मेहनत से उगाया हुआ अन्न खाकर ही ये ब्रह्मचारी पवित्र मन वाले होकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करेंगे। इन ब्रह्मचारियों के निर्विघ्न विद्याध्ययन के लिए आप अवश्य ही अपना सहयोग प्रदान करें ऐसी मेरी आपसे प्रार्थना है। आप अन्न हेतु सहयोग अन्न देकर अथवा अन्न क्रय हेतु धन से सहयोग कर सकते हैं। यह कार्य आप स्वयं तथा अपने मित्रों के माध्यम से कर एवं करवा सकते हैं। इस पवित्र कार्य के लिए आप अपना सहयोग अवश्य प्रदान करें।

आज से सोलह वर्ष पूर्व जब इस गुरुकुल की स्थापना की गयी थी, तो उस समय पर हमने आशा भी नहीं की थी कि आप सब लोगों के हम इतने हृदयप्रिय हो जायेंगे कि १७ वर्षों के अन्तराल में ही हम एक भव्य संस्था स्थापित कर पायेंगे, परन्तु यह सब आप लोगों के स्नेह, सहयोग एवं आशीर्वाद का ही फल है कि यहाँ अनवरत विकास होता रहा और यह एक आकर्षक एवं आर्ष विद्या का मुख्य केन्द्र बन गया।

मुझे आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि निश्चित ही आप मेरी प्रार्थनाओं पर ध्यान देंगे। जो बीज आपके सहयोग से १७ वर्ष पूर्व बोया था, अब उसे आकर तो देखें कि वह अंकुर उत्पन्न होकर कितना बड़ा पेड़ हो गया? कितनी उसकी शाखायें पैदा हुई? कैसा वह फल दे रहा है? इस पेड़ के आप भी माली एवं दर्शक बनेंगे, यही मेरी बारम्बार आपसे विनती है। इस कार्यक्रम के प्रति आपके सन्देश एवं आगमन की मुझे अहर्निश प्रतीक्षा रहेगी।

-आचार्य.....✍
गुरुकुल-पौन्धा

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

वेदों में मानव के अधिकार और कर्तव्य

❑ डॉ. कंवर सिंह...

वैदिक ऋषि द्वारा प्राप्त ज्ञान की प्रविधि को वैदिक भाषा में साक्षात्कार कहा जाता है। वैदिक मान्यता है कि ऋषि मन्त्र द्रष्टा हैं न कि मन्त्र रचयिता। ऋषियों ने किसी ज्ञान अथवा मन्त्र की रचना नहीं की प्रत्युत उनका उन्होंने ज्ञान-चक्षुषा साक्षात्कार किया है।

अपने विषय पर आगे बढ़ने से पूर्व यह भी निवेदन अवश्य करना चाहूंगा कि वेद शब्द जिन धातुओं से बना है वे हैं- विद् सत्तायाम्, विद् ज्ञाने, विदलृ लाभे,विद् विचारणे तथा विद् चेतनाख्यान..। विद् धातु के ज्ञान, लाभात्मक रस तथा सत्ता तीन अर्थ हैं। ज्ञान चित् है, लाभात्मक रस आनन्द है। सत्ता सत् है, समष्टि सच्चिदानन्द है, यही ब्रह्म है, यही विद्या है और यही वेद पदार्थ है। अर्थात् सत् ज्ञान चेतनात्मक है। वैदिक परम्परा की आधार पीठ यही वेद पदार्थ है।

वैदिक साहित्य में मानवाधिकार का अनेक प्रसंगों में विस्तृत विवेचन हुआ है। इसमें अधिकार के साथ कर्तव्यों का भी निर्देश है। अधिकार और कर्तव्य का अन्योन्य सम्बन्ध है। जहाँ अधिकार की चर्चा है, वहाँ कर्तव्यों पर भी विशेष ध्यान आकृष्ट किया गया है। ये अधिकार और कर्तव्य धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, आर्थिक शैक्षिक, नैतिक, चारित्रिक सभी प्रकार के है। इनमें नारी के अधिकार विश्वबन्धुत्व आदि विषय भी सम्मिलित हैं। इसमें मानव के उत्थान, राष्ट्र और समाज के उत्थान से संबद्ध विषय भी लिए गए हैं। यहाँ पर कुछ प्रमुख बातें प्रस्तुत की जा रही हैं:-

धार्मिक अधिकार

धार्मिक अधिकार और कर्तव्यों में विशेष उल्लेखनीय तथ्य ये हैं :-

सबको वेद पढ़ने का अधिकार :- यजुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि यह वेदवाणी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबके लिये है।

यथेमां वाचं कल्याणीम् आ वदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च[१] ॥

सबके साथ मित्रवत् व्यवहार :- समाज में सबके साथ समानता का व्यवहार करते हुए मित्रवत् आचरण करें। हम सबको मित्रवत् देखें और सब हमें मित्रवत् देखें।

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे[२] ॥

स्त्रियों को भी यज्ञ करने का अधिकार:- वेदों के अनेक मंत्रों में स्त्रियों को भी यज्ञ करने का अधिकार प्रदान किया गया है। स्त्रियों को यज्ञोपवीत पहनना, वेदमंत्रों का पाठ करना, वेदाध्ययन करना और प्रवचन का भी अधिकार दिया गया है। वे शिक्षा के क्षेत्र में आचार्या होती थीं और यज्ञादि में ब्रह्मा का भी स्थान ग्रहण करती थीं।

(क) या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः[३]।
(ख) स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ[४]।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में २९ मंत्रद्रष्टा ऋषिकाओं का उल्लेख है। इनके द्वारा दृष्ट मंत्रों की संख्या ४२२ है। इन ऋषिकाओं में विशेष उल्लेखनीय हैं-सूर्या, सावित्री, इन्द्राणी, यमी, अदिति, वाक् आम्भृणी, श्रद्धा कामायनी, आत्रेयी आदि। जैमिनीय ब्राह्मण में भी स्त्रियों को मन्त्रकृत् कहा गया है-**स्त्रयो मन्त्रकृतः[५]।**

राष्ट्रीय अधिकार

वेदों में स्वाधीनता राष्ट्रीय अधिकार बताया गया है। ऋग्वेद (१.८०) के १६ मंत्रों में 'अर्चन् अनु स्वराज्यम्' कहकर स्वराज्य की स्तुति की गयी है। यजुर्वेद में राष्ट्र को स्वतंत्र रखने का अधिकार दिया

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

गया है–

स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम् अमुष्मै दत्त[६]।

ऋग्वेद में कहा गया है कि देवता या किसी महान् शक्ति को राष्ट्र की स्वतत्रंता छीनने का अधिकार नहीं है–

न मिनन्ति स्वराज्यम्। न देवो नाध्रिगुर्जनः[७]

अथर्ववेद का कथन है कि स्वराज्य प्राप्ति के लिए जन–आन्दोलन आवश्यक है। स्वराज्य से बढ़कर और कोई सुख नहीं है।

यजुर्वेद में एक महत्त्वपूर्ण बात की गई है कि राष्ट्र में महान् जनतान्त्रिक राज्य की स्थापना की जानी चाहिए, जिससे जनता को अपना अधिकार प्राप्त हो सके–

महते क्षत्राय, महते जानराज्याय[८]

अथर्ववेद में प्रजा को अधिकार दिया गया है कि वह राजा को चुने।

त्वां विशो वृणतां राज्याय[९]

जहाँ प्रजा को राजा चुनने को अधिकार दिया गया है, वहीं प्रजा के कर्तव्यों में निर्देश है कि वह देश को माता के तुल्य पूज्य समझें, सदा जागरूक रहें और देशरक्षार्थ बलिदान होने के लिए तत्पर रहें।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः[१०]
वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः[११]
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम [१२]

सामाजिक अधिकार

ऋग्वेद में सामाजिक समरसता के लिए आवश्यक बताया गया कि छोटे–बड़े, ऊँच–नीच का भेद–भाव भुलाकर समाज में भाई–चारे की भावना से रहें। ऐसा करने से ही समाज की उन्नति होगी–**अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय[१३]**

ऋग्वेद में सह–अस्तित्व की भावना स्थापित करने का भी उपदेश दिया गया है और बताया गया है कि तुम्हारे विचार, मन और हृदय समान हों–

समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति[१४]॥

अथर्ववेद के एक अतिमहत्त्वपूर्ण मंत्र में उपदेश दिया गया है कि धर्मभेद, भाषाभेद आदि भेदों को भुलाकर राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उदाहरणरूप में पृथिवी को रखा गया कि यह विभिन्न धर्म मानने वाले और विभिन्न भाषा बोलने वाले सभी को एक परिवार की तरह अपने में स्थान दिये हुए है। ऐसे करने से ही पृथिवी सभी प्रकार की सुख–सम्पदा देती है। सामंजस्य के लिए यह भी आवश्यक बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की सुरक्षा के लिए सदा तत्पर रहे – **पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः[१५]।**

सामाजिक समरसता के लिए आवश्यक बताई गई है कि सामूहिक खान–पान की व्यवस्था की जाए। सग्धि का अर्थ है–एक भोजनालय और सपीति का अर्थ है–एक जलपान गृह।

सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे[१६]
समानी प्रपा सह वो अन्नभागः[१७]

सामाजिक समरसता के लिए आवश्यक है कि समाज में कोई भूखा प्यासा न रहे। इसका अभिप्राय यह है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह खाना–दाना प्राप्त करे।

अक्षुध्या अतृष्या स्त[१८]

अथर्ववेद में निर्बलों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई गयी है और राजा को निर्देश दिया गया है कि वह ऐसी व्यवस्था करे, जिससे सबल निर्बलों या निर्धनों का शोषण न कर सकें और उनसे अनुचित रूप से टैक्स वसूल न कर पावें–**यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे[१९]**

आर्थिक अधिकार

वेदों में प्रत्येक व्यक्ति को धन अर्जन करने और उसके संग्रह का अधिकार दिया गया है। धन–संग्रह और धन की सुरक्षा के लिए योगक्षेम शब्द आया है। यजुर्वेद में कहा गया है कि हम धन के स्वामी हों और हमें योगक्षेम प्राप्त हो।

वयं स्याम पतयो रयीणाम्[२०]

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

योगक्षेमो नः कल्पताम् [21]

धनोपार्जन के अधिकार के साथ यह शर्त लगाई गयी है कि धन उचित साधनों से संग्रह किया जाए।

समुचित अर्थ-व्यवस्था के लिए एक महत्त्वपूर्ण मंत्र दिया गया है कि हम समाज को दें और समाज से लें। लेन-देन से ही समाज चलता है। हम मूल्य से वस्तु लें और मूल्य से वस्तु दें।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते[22] **॥**
वस्नेव विक्रीणावहै[23] **।**

ऋग्वेद में समुद्री-व्यापार का अनेक मंत्रों में उल्लेख है। केवल अपने देश में ही नहीं, अपितु समुद्र-पार अन्य देशों से भी धन एकत्र करने का अधिकार मनुष्य को दिया गया है।

समुद्रस्य चिद् धनयन्त पारे [24]
समुद्रे न श्रवस्यवः[25]

नारी के अधिकार

वेदों में नारी के अधिकारों का बहुत विस्तार से वर्णन है। ऋग्वेद में नारी को ही घर बताया है। वह गृहस्वामिनी और कुल की पालक (कुलपा) होती है-**जायेदस्तम्** [26] **।** जाया-पत्नी, इत-ही, अस्तम्-घर है। इसको ही एक सुभाषित में कहा गया है-**न गृहं गृहमित्याहुः, गृहिणी गृहमुच्यते।** (संस्कृत सुभाषित)

वेदों में नारी को जहाँ परिवार और वृद्धजनों की सेवा-शुश्रुषा का कार्य दिया गया है, वहीं उसे सास-ससुर एवं परिवार के सभी सदस्यों की सम्राज्ञी (स्वामिनी) होने का अधिकार दिया गया है।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु [27] **॥**

अथर्ववेद के एक मंत्र में स्त्री को भी युद्ध में जाने को अधिकार दिया गया है। मंत्र में युद्धस्थल के लिए समन शब्द का प्रयोग है-**संहोत्र स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति**[28] **।**

ऋग्वेद में अविवाहित पुत्री को पुत्र के बराबर दायभाग का अधिकारी बताया गया है-**अमाजूरिव पित्रोः सचा सती, समानादा सदसस्त्वामिये भगम्। कृधि प्रकेतमुप मास्या भर,दद्धि भागं तन्वो येन मामहः**[29]

ऋग्वेद के अन्य मंत्र में कहा गया है कि यदि पुत्र नहीं है तो पुत्री ही पूरी संपत्ति की अधिकारिणी होगी-**न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्** [30] **।**

इस प्रकार हमें वेदों में मानवाधिकार से संबद्ध पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है।

निष्कर्षः- वैदिक साहित्य मन्दाकिनी की तरंगो में अथाह ज्ञानराशि कल्लोल करती है। ऋषि दयानन्द ने कहा है-वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेदों में विज्ञान की प्रत्येक शाखा के पुट प्राप्त होते है। विज्ञान के साथ-साथ मानवीय मूल्यों और अधिकारों की चर्चा भी विस्तार से की गई है। विशेषरूप से मानव के धार्मिक, आर्थिक, राष्ट्रीय, शैक्षिक व नारी के अधिकारों की चर्चा प्राप्त होती है। प्रस्तुत लेख में यथासंभव वैदिक प्रमाणों द्वारा प्राचीनकाल से ही अत्यन्त विकसित मानवीय सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है।

सन्दर्भसूची-

१. यजु. २६.२
२. यजु. ३६.१८
३. ऋग्. ८.३१.५
४. ऋग्. ८.३३.१९
५. जैमि ब्रा. २.२२०
६. यजु. १०.४
७. ऋग्. ८.९३.११
८. ऋग्. ८.३३.१९
९. अथर्व. ३.४.२
१०. अथर्व. १२.१.१२
११. यजु. ९.२३.
१२. अथर्व. १२.१.६२
१३. ऋग्. ५.६०.५
१४. ऋग्. १०.१६१.४
१५. ऋग्. ६.७५.१४
१६. यजु. १८.९
१७. अथर्व. ३.३०.६
१८. अथर्व. ७.६०.४
१९. अथर्व. ३.२९.३
२०. यजु. १०.२०
२१. यजु. २२.२२
२२. यजु. ३.५०
२३. यजु. ३.४१
२४. ऋग्. १.१६७.२
२५. ऋग्. १.४८.३
२६. ऋग्. ३.५३.४
२७. अथर्व. १३.१.४४
२८. अथर्व. २०.१२६ १०
२९. ऋग्. २.१७.७
३०. ऋग्. ३.३१.२

संस्कृत विभाग,
श्री वेंकटेश्वर महाविद्यालय,
धौलां कुआं नई दिल्ली-२१

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

आर्यसमाज के नियमों की व्याख्या

(स्वामी देवव्रत सरस्वती के कतिपय प्रवचनों का संग्रह)

❑ **संकलनकर्ता-आचार्य डॉ. धनञ्जय......**

क्रमशः.... **अष्टम नियम**

अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

आर्य समाज के छठे नियम में आत्मिक उन्नति करने का आदेश दिया है। आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध है फिर उसकी उन्नति से क्या अभिप्राय है इस पर विचार करना होगा। यद्यपि आत्मा स्वभावतः शुद्ध-बुद्ध है परन्तु अविद्या, अविवेक के कारण बुद्धि में घटित सुख-दुःखादि को मनुष्य अपने में जान सुखी या दुःखी हो रहा है।

अविद्या का लक्षण करते हुये योगदर्शन में कहा है-

अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योग. २/५)

अनित्य पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि को नित्य मानना, मैं सदा युवा ही रहूंगा यह मानना, अपवित्र मल-मूत्रादि से युक्त शरीर को पवित्र मान उसमें आसक्त होना, शरीर, मन, बुद्धि आदि को अपना मानना और दुःख रूप संसार को सुख रूप मानना यह अविद्या का लक्षण कहा है - **तद्दुष्टं ज्ञानम्** (वैशे.) यह दुष्ट ज्ञान है।

व्यवहार भानु में विद्या का लक्षण इस प्रकार किया है-

प्रश्न - विद्या और अविद्या किसे कहते हैं?

उत्तर - जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उल्टा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें वह अविद्या कहाती है।

विद्या में पराविद्या और अपराविद्या दोनों का समावेश है। लौकिक व्यवहारार्थ सब पदार्थों के गुण-धर्म जान उनसे उपयोग लेना, परस्पर का व्यवहार, कर्तव्यपालन आदि सभी ज्ञान आ जाते हैं। इनसे दैनिक कार्यों में आने वाले कष्टों का निवारण होता है। जैसे वर्तमान समय में भौतिक विज्ञान ने जीवन को अधिकांश में कष्टमुक्त बना दिया है।

पराविद्या- पराविद्या आध्यात्मिक ज्ञान है जिससे आत्मा, परमात्मा के गुणों को जान, प्रकृति से छूट आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है। त्रिविध दुःखों से छूटने का एकमात्र यही उपाय है। आज सब से अधिक पाखण्ड अध्यात्म के क्षेत्र में हो रही है। सच्चे ईश्वर की उपासना के स्थान पर अनेक देवी-देवताओं की पूजा, गुरूडम या पैगम्बरों का बोलबाला है। परमात्मा से मिलने और मुक्ति का उपाय योगदर्शन में विस्तार से बतलाया है। उसके स्थान पर मन्त्र-तन्त्र गुरु का ध्यान और अमुक पैगम्बर पर ईमान लाने से ही मुक्ति होना मान लिया है। यद्यपि आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु का महत्वपूर्ण योगदान है परन्तु परमात्मा गुरुओं का भी गुरु है, यह ज्ञान बहुत आवश्यक है।

अविद्या की पृष्ठभूमि में ही अहंकार, राग, द्वेष, मृत्यु भय आदि क्लेश पनपते हैं। धर्म के नाम पर प्राणियों की हिंसा, तीर्थों में स्नान, पूजा और पाप से मुक्त होना आदि अनेक पाखण्ड पनप रहे हैं। कन्याओं को भ्रूण अवस्था में ही मार दिया जाता है। निरपराध व्यक्तियों को मौत के घाट उतारा जा रहा है। गुण, कर्म, स्वभाव से वर्ण व्यवस्था के स्थान पर जन्म से ही जाति-पाति की कुप्रथा से समाज में वैर-विरोध बढ़ गया है।

महर्षि दयानन्द जी ने सर्वप्रथम इस पाखण्ड और अन्याय को दूर करने के लिये कुम्भ के मेले में पाखण्ड खण्डनी पताका गाड़कर अविद्या अन्धकार में फंसे लोगों को सन्मार्ग पर लाने का कार्य प्रारम्भ किया। उनका अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश आज भी लोगों को

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

अविद्या अन्धकार से निकाल ज्ञान के प्रकाश से आलोकित कर रहा है।

प्रत्येक आर्य का यह कर्तव्य है कि महर्षि के आदेश को शिरोधार्य कर समाज मे फैले अज्ञान, अन्धविश्वास, भ्रष्टाचार, कन्या भ्रूण हत्या, जन्म से जाति पाति और गुरूडम को हटाकर वेदोक्त धर्म का पालन करना सिखाया जाये तभी संसार में शान्ति रह सकेगी।

नवम नियम

प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना उसका विकास सम्भव नहीं है। समाज का व्यवहार एक-दूसरे के सहयोग से ही चलता है। यदि पड़ोस में आग लगी है तो हमारा घर चाहे अग्निरोधी सामग्री से बना हो, उसकी लपटों से प्रभावित होगा ही। हमारे चारों ओर चोर उचक्के और असामाजिक तत्व रहते हों तो उसका प्रभाव हमारे बच्चों पर पड़ेगा ही। इसी बात को ध्यान में रखते हुये आर्य समाज के इस नियम में सबकी उन्नति के लिये प्रतिबद्धता दिखाई देती है। सामाजिक उन्नति का भी यही अभिप्राय है कि जिस समाज में हम रहते हैं वहां के लोग सुपठित, सभ्य, धार्मिक और पुरूषार्थी बन आपस में मिल कर रहें। सभी एक-दूसरे के सुख-दु:ख को अपना मान उसमें हाथ बटायें। इस व्यवहार से भिन्न विचारधारा के लोगों की सहानुभूति और सहयोग अच्छे कार्यों के लिये मिल सकता है।

देवों और असुरों में यही भेद है कि असुर अपना हित प्रथम देखते हैं और देव दूसरों का हित पहले चिन्तन करते हैं। वेदों के अधिकांश मन्त्र और प्रार्थनायें बहुवचन में है।

धियो यो नः प्रचोदयात्-हमारी बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभाव में प्रेरित कीजिये। **यद् भद्रं तन्न आसुव** जो कल्याणकारक उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव हैं वे हमें प्राप्त कराइयें।

यह नियम वैयक्तिक उन्नति के साथ दूसरों को भी साथ लेकर चलने का संकेत करता है। जो स्वयं पुरूषार्थ द्वारा आगे बढ़ गया है। वही दूसरों को भी आगे बढ़ने की प्रेरणा करे तो लोग उसकी बात को प्रामाणिक मानकर उधर बढ़ने का प्रयत्न भी करते हैं। जिसका अपना जीवन दरिद्रता और दुर्व्यसनों से युक्त है वह जनहित को कितनी भी बड़ी योजना प्रस्तुत करें लोग उस ओर ध्यान नहीं देते।

ऋग्वेद का अन्तिम संगठन सूक्त मनन और चिन्तन करने योग्य है। सबकी उन्नति तभी सम्भव है जब सभी लोग **संगच्छध्वम्** एक साथ मिलकर चलें **संवदध्वम्** मिल विचार कर एक मत या एक स्वर में बोलें। **सं वो मनांसि जानताम्** सबका ध्येय, चिन्तन एक हो।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः - परमेश्वर कहता है- हे मनुष्यों ! तुम्हारे खाने-पीने के स्थान एक हों अर्थात् सबको एक जैसा भोजन मिले।

जिस समाज में सबको शिक्षा रोजगार के साधन और उन्नति करने का समान अधिकार हो और सब एक दूसरे का सहयोग करें तो वह समाज या राष्ट्र सुखी और धन-धान्य से सम्पन्न होगा इसमें कोई सन्देह नहीं।

भेड़-बकरियों के लिये जो भी चारा डाला जाये वे सब मिल कर खा लेती हैं इसलिये उनकी वृद्धि होती चली जाती है और कुत्तों को पर्याप्त भोजन देने पर भी वे आपस में लड़ने लगते हैं। यह जातिद्रोह उनकी वृद्धि में बाधक है। जंगल का राजा सिंह दूसरे से उत्पन्न हि शावकों को मार डालता है। किसी कौवें के सामने रोटी का टुकड़ा डालने पर एक झट आवाज कर के दूसरे कौओं को भी बुला लेता है। यदि एक कव्वे पर कोई आपत्ति आ जाये तो उसकी सहायता के लिये बहुत सारे कौवें आ जाते हैं।

जब चींटी, मधुमक्खी जैसे क्षुद्र प्राणी मिलकर रहते है तो फिर सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य यदि

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

मिल कर रहे तो सारे संसार में सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाये। आर्यसमाज का नवां नियम इसी ओर संकेत कर रहा है।

दशम नियम

सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

इस नियम में स्वतंत्रता और परतंत्रता का सुन्दर समन्वय किया गया है। प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र रहना चाहता है। उसे बन्धन स्वीकार नहीं है। दिन भर खूंटे से बंधा पशु रस्सी खोल देने पर कुलांचे भरने लगता है। स्वतंत्रता सुख और परतंत्रता दु:ख का हेतु है।

व्यक्ति और समाज दोनों का विशिष्ट स्थान है। व्यक्ति से ही समाज का निर्माण और समाज से ही व्यक्तिगत जीवन का निर्माण होता है। ये एक दूसरे के सहयोगी है। परन्तु कभी कभी दोनों के हित परस्पर टकराने से विरोध उत्पन्न हो जाता है। कई बार समाज के लिये वैयक्तिक हितों की अनदेखी करनी पड़ती है। नीतिकार कहते हैं-**त्येजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामार्थं च कुलं त्यजेत्।**

कुल के हितार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़ दे और ग्राम या राष्ट्र का कोई हितकारी कार्य किया जा रहा हो और अपने कुल के हितों की हानि भी होती हो तो उसे अनदेखा कर देना चाहिये। प्राय: देखा जाता है कि अपने स्वार्थ की पूर्ति में कहीं अड़चन आई तो लोग उस कार्य का विरोध करने लगते हैं अथवा संगठन से अलग हो जाते हैं। इस गतिरोध को दूर करने के लिये ही यह दसवां नियम बनाया गया है।

यदि समाज में कोई कुरीति या कुप्रथा प्रचलित है यथा बालविवाह, पर्दा प्रथा या मृतक भोज आदि तो उस प्रथा का पालन करना आवश्यक नहीं है। परन्तु किसी ग्राम में सड़क का निर्माण हो रहा है और उसमें किसी की भूमि आ जाती है तो सर्वहितकारी नियम समझ कर उस भूमि को स्वेच्छा या उचित मूल्य लेकर उसे छोड़ देना चाहिये। अच्छे कार्य में बाधा डालना या कोर्ट में मुकदमा करना प्रशस्त नहीं माना जाता।

जिस कार्य से समाज का अहित न होता हो और व्यक्ति के घर परिवार की उन्नति होती हो यथा कोई व्यापार भूमि, कल कारखाने की स्थापना, ऐसे कार्य करने में सभी स्वतंत्र हैं। इसी भांति शिक्षा, व्यवसाय अथवा अपनी रूचि एवं योग्यता के अनुसार ऐसा कोई भी कार्य किया जा सकता है जिसमें सामाजिक हित आड़े नहीं आये।

योग दर्शन में कहे यम-नियम समाज और व्यक्ति के हितों को ध्यान में रख कर ही बनाये जाते हैं। अहिंसा-सबसे वैर भाव त्यागना, सत्य, अस्तेय-चोरी को छोड़ना, ब्रह्मचर्य का पालन और आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना-अपरिग्रह ये पांचों यम सामाजिक जीवन में समरसता बनी रहे, इसी लिये बनाये हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पांच नियम है जिनका पालन व्यक्ति के जीवन को सुखद बना देता है। इसी भांति व्यक्ति दुर्व्यसनों के कुचक्र में फंसकर उनका दास बन जाता है।

उपसंहार- महर्षि दयानन्द आर्ष परम्परा के योग्य आचार्य थे इसलिये उन द्वारा बनाये आर्यसमाज के नियम बहुत ही उदाप्त और व्यक्ति तथा सामाजिक उन्नति के लिये हितकर है।

- आचार्य,
गुरुकुल पौन्धा, देहरादून

परोपकारी पशुओं को मारनेवाले नीच लोगा

शुभ-गुण-युक्त, सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर, जो अपने पेट भर, सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती अनुपकारी, दु:ख देनेवाले, और पापी जन होंगें ?

- स्वामी दयानन्द सरस्वती, गोकरुणानिधि

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

कौण्डभट्ट विरचित पदार्थदीपिका में सामान्य-पदार्थ निरुपण

❑ डॉ.विश्वेश...✍

आचार्य कौण्डभट्ट द्वारा रचित 'वैयाकरणभूषण', 'वैयाकरणभूषणसार' एवं 'लघुभूषणसार' नामक ग्रन्थत्रय व्याकरण के दार्शनिक तथ्यों के प्रकाशन में अन्यतम माने जाते हैं, किन्तु इनमें भी वैयाकरणभूषणसार अत्यन्त लोकप्रिय तथा विशेष रूप से समादृत है। जिस कारण पाणिनीय-व्याकरण की आचार्य-परम्परा की अग्रिम पङ्क्ति में कौण्डभट्ट को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

इन ग्रन्थों के माध्यम से आचार्य ने न केवल व्याकरण के विशुद्ध सिद्धान्तों की समीक्षा प्रस्तुत की अपितु न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त आदि दर्शनों की विशिष्ट अवधारणाओं का भी अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ युक्ति-युक्त समालोचन उपस्थापित किया है। जिससे ज्ञात होता है कि कौण्डभट्ट केवल एक महान् वैयाकरण ही नहीं अपितु अन्य दार्शनिक विधाओं के भी प्रामाणिक आचार्य हैं। यही कारण है कि उन्होंने न केवल व्याकरणदर्शन पर अपितु न्याय-वैशेषिक दर्शन पर भी 'तर्करत्न' 'पदार्थदीपिका' एवं 'तर्कप्रदीप' नामक तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया है, किन्तु महती विडम्बना है कि न्याय-वैशेषिक परम्परा के आचार्यों में कौण्डभट्ट को एक समुचित स्थान प्राप्त नहीं हो पाया। न्याय-वैशेषिक दर्शन का सामान्य परिचय रखने वाला जिज्ञासु पाठक न्याय-वैशेषिक के क्षेत्र में उनके द्वारा किये गये योगदान से अपरिचित ही है। जबकि कौण्डभट्ट द्वारा रचित न्याय-वैशेषिक विषयक ग्रन्थों में से सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध 'पदार्थदीपिका' नामक ग्रन्थ का अध्ययन करने से बहुत से ऐसे तथ्य अनायास ही दृष्टि गत हो जाते हैं जिनका विवेचन नितान्त अपेक्षित है। इसी क्रम में 'पदार्थदीपिका' में निरूपित 'सामान्य' नामक पदार्थ के व्याख्यान क्रम में कौण्डभट्ट के वैशिष्ट्य को उपस्थापित करना प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य है।

वैशेषिकदर्शन के अनुसार संसार की समस्त वस्तुओं में विविध वैचित्र्य विद्यमान हैं, जिनके आधार पर उनका अनेकत्व सिद्ध है, साथ ही उनमें परस्पर एक अन्तर्निहित समानता भी विद्यमान रहती है, जिसके आधार पर हम उन वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान कर पाते हैं। यदि संसार की सभी वस्तुएँ एक दूसरे से केवल भिन्न ही होती, और उनमें कोई साम्य नहीं होता तो निश्चय ही उनका ज्ञान मानव मस्तिष्क के सामर्थ्य से बाहर का होता। इसीलिए न्याय-वैशेषिकदर्शन में एक ऐसे पदार्थ को स्वीकार किया गया जिसके आधार पर संसार की भिन्न-भिन्न वस्तुओं को वर्गीकृत कर सामान्य अभिधान दिया जा सकता है। इसी को 'सामान्य' अथवा 'जाति' कहा जाता है।

सामान्य का लक्षण- वैशेषिक सूत्रकार कणाद ने सामान्य का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है। न्यायसूत्रकार गौतम ने 'सामान्य' पद के स्थान पर 'जाति' पद का प्रयोग करते हुए उसे एक समान ज्ञान को उत्पन्न करने वाला बताया है।[१] न्यायभाष्यकार ने इन दोनों पदों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा है कि- 'जो भिन्न-भिन्न आधारों में एक समान ज्ञान को उत्पन्न करता है, वह 'सामान्य' है तथा जो पदार्थों की एकता एवं कुछ पदार्थों की अनेकता को व्यक्त करती है, वह 'जाति' है।[२] प्रशस्तपाद ने भी वात्स्यायन की ही पदावली का प्रयोग करते हुए सामान्य का लक्षण प्रस्तुत किया है।[३]

किन्तु परवर्ती काल में जब न्याय-वैशेषिक एक समानतन्त्र के रूप में आगे बढ़े तो 'सामान्य' एवं 'जाति' दोनों पदों का समान अर्थ में प्रयोग होने लगा[४] तथा अपेक्षाकृत एक स्पष्टण एवं विशुद्ध लक्षण सामने आया, तद्यथा- 'नित्य तथा एक होते हुए भी जो अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहता है, वह सामान्य कहलाता है'। परवर्ती प्रायः सभी न्याय-वैशेषिक आचार्यों ने इसी लक्षण को स्वीकार किया है।[५]

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

आचार्य कौण्डभट्ट ने भी 'पदार्थदीपिका' में सामान्य का यही लक्षण प्रस्तुत किया है। कौण्डभट्ट के अनुसार यह सभी पदार्थों में रहने वाला अनेकानुगत धर्म है, जैसे- घटत्व, सभी घटों में रहने वाला अनेकानुगत धर्म है। कौण्डभट्ट द्वारा प्रस्तुत इस लक्षण में चार बातें रखी गई हैं- (१) नित्य होना (२) एक होना (३) अनेकों में रहना, तथा (४) समवाय सम्बन्ध से रहना। इन चारों विशेषताओं से युक्त पदार्थ ही सामान्य कहलाता है। यद्यपि कौण्डभट्ट ने इन विशेषताओं का पृथक् रूप से कोई विवेचन नहीं किया है, किन्तु तर्कसङ्ग्रह की टीकाओं में सामान्य के उपर्युक्त लक्षण में इनका सम्यक् विवेचन किया है। कौण्डभट्ट द्वारा प्रस्तुत लक्षण का स्पष्टीकरण भी उसी आधार पर किया जाना चाहिए-

सामान्य नित्य है- सामान्य को नित्य मानना इसलिये आवश्यक है, ताकि संयोगादि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति न हो सके, क्योंकि संयोग भी एक होता है एवं अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहता है।[७]

सामान्य एक है- तर्कप्रदीप में 'एक' पद का कोई प्रयोजन नहीं बताया गया। नृसिंहप्रकाशिका में 'एक' पद को 'प्रामादिक' कहा गया है[८] जबकि नीलकण्ठ के अनुसार 'एक' पद स्वरूपकथन के लिए है।[९] वादिवागीश्वर एवं विश्वनाथ ने भी 'सामान्य' के लक्षण में 'एक' पद को नहीं रक्खा है।[१०] तर्कसङ्ग्रह के आधुनिक व्याख्याकार कांशीराम के अनुसार- 'इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य के वास्तविक लक्षण में 'एक' को छोड़ा जा सकता है। 'नित्यमनेकानुगतं सामान्यम्' अर्थात् जो नित्य तथा अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहता है वह सामान्य है'[११] इतने लक्षण से ही काम चल सकता है।

सामान्य अनेकानुगत है- यदि 'सामान्य' को 'अनेकानुगत' नहीं मानेंगे तो यह लक्षण 'आकाश के परिमाण' में भी अतिव्याप्त हो जाएगा, क्योंकि 'आकाश का परिमाण' नित्य एवं समवेत तो होता ही है।[१२] अतः 'अनेकानुगत' पद जोड़ने से सामान्य के लक्षण की 'आकाश के परिमाण' में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि 'आकाश-परिमाण' केवल एक आकाश में ही रहता है, अनेकों में नहीं।

सामान्य समवाय सम्बन्ध से रहता है-सामान्य को समवाय सम्बन्ध से रहने वाला इसलिए माना गया है कि अत्यन्ताभाव में इस लक्षण की अतिव्याप्ति न हो, चूँकि अत्यन्ताभाव नित्य भी होता है एवं अनेकानुगत भी।[१३]

सामान्य के लक्षण के विषय में प्रो. शशिप्रभा कुमार का मन्तव्य है कि सामान्य का लक्षण 'नित्य' 'एक' व 'अनेकसमवेतत्व' यद्यपि तार्किक दृष्टि से तो निर्दोष एवं शुद्ध है, किन्तु सामान्य का हमारे ज्ञान से क्या सम्बन्ध है, इसको स्पष्ट नहीं करता, उसी प्रकार प्रशस्तपादादि आचार्यों के द्वारा किया गया सामान्य का लक्षण- 'अनुवृत्तप्रतीति' पर तो बल देता है, किन्तु तार्किक दृष्टि से दोषपूर्ण है। तथापि, दोनों को सम्मिलित करने से सामान्य का वैशेषिकसम्मत स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है।[१४]

जातिबाधकसङ्ग्रह- न्याय-वैशेषिक आचार्यों के अनुसार सभी पदार्थों में रहने वाला अनेकानुगत समानता का भाव ही सामान्य है, किन्तु इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय यह है कि सभी प्रकार की समानता को 'सामान्य' पदार्थ या जाति नहीं माना जा सकता, क्योंकि पदार्थ-रूप में सामान्य एक स्वाभाविक, बाह्य सत् एवं नित्य धर्म है, जैसे घटत्व, पटत्व, रक्तत्व आदि। इसके विपरीत, वस्तुओं में कुछ ऐसे बाह्य एवं आगन्तुक साम्य भी होते हैं जो सामान्य नहीं कहे जा सकते, जैसे पाचकत्व, अन्धत्व एवं लम्बत्व आदि, चूँकि ये वस्तुओं के नित्य धर्म नहीं हैं, अल्पकालिक या अस्वाभाविक विशेषताएँ हैं तथा इन्हें न्याय-वैशेषिक दर्शन में 'जाति' नहीं 'उपाधि' कहा गया है।[१५]

कौण्डभट्ट ने पदार्थदीपिका में उदयनाचार्य की तरह इस तरह के छः हेतुओं की गणना की है, जिनके कारण कोई समान धर्म 'उपाधि' ही रह जाता है, 'जाति' नहीं बन पाता। इन षड्विध हेतुओं को जातिबाधकसङ्ग्रह कहा जाता है-

१.व्यक्ति का अभेद- कौण्डभट्ट के अनुसार- 'घटत्व

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

से कलशत्व पृथक् जाति नहीं है, व्यक्त्यभेद के कारण'[१६] क्योंकि घट एवं कलश कोई अलग-अलग व्यक्ति नहीं है दोनों नाम एक ही सद्वस्तु के हैं। अतः घटत्व एवं कलशत्व दोनों मात्र पर्यायवाची हैं। इन्हें अलग-अलग जाति नहीं माना जा सकता।

२.तुल्यव्यक्तिकत्व- जब दो अलग-अलग धर्म तुल्य व्यक्ति में (एक ही व्यक्ति में) हों तो वे समनियत दोनों धर्म दो जातियों के रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते। जैसे- 'द्रव्यत्व एवं गुणाश्रयत्व दो पृथक्-पृथक् जातियाँ नहीं हैं, क्योंकि दोनों का आश्रय द्रव्य एक ही है यद्यपि धर्म अलग-अलग हैं।'[१७]

३.सङ्कर- कौण्डभट्ट के अनुसार- 'एक दूसरे के अत्यन्ताभाव के साथ रहने वाले दो धर्मों का एकत्र रहना सङ्कर कहलाता है।'[१८] इस आधार पर शरीरत्व को जाति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पृथिवीत्व आदि के साथ उसका साङ्कर्य है[१९] अर्थात् शरीरत्व एवं पृथिवीत्व दोनों एक दूसरे के अत्यन्ताभाव के समानाधिकरण धर्म हैं। अतः उनमें सङ्कर दोष है। तद्यथा- शरीरत्व, पार्थिवशरीरों के अलावा तैजसादि शरीरों में भी रहता है, जहाँ पृथिवीत्व का अत्यन्ताभाव है। उसी तरह पृथिवीत्व, पार्थिवशरीरों के अलावा घटादि में भी रहता है, जहाँ शरीरत्व का अत्यन्ताभाव है, किन्तु हमारे पार्थिवशरीरों में शरीरत्व एवं पृथिवीत्व दोनों ही रहते हैं।[२०] अतः सङ्करदोष के कारण इन्हें जाति नहीं माना जा सकता। इसको आरेखन के माध्यम से इस तरह भी प्रस्तुत किया जा सकता है- धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुसार 'वस्तुतः सङ्कर ही जाति-बाधक तत्त्वों में से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, चूँकि यह वैशेषिक वस्तुवाद की उस मूल मान्यता का भी संरक्षक सिद्ध होता है, जिसके अनुसार कोई भी भौतिक कार्य अपने मूल-तत्त्वों के रूप में केवल एक ही तत्त्व से निर्मित होता है, दो या उससे अधिक से नहीं, अन्यथा वहाँ भी उन तत्त्वों में रहने वाली जातियों के सङ्कर का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा'।[२१]

४. अनवस्था- सामान्य में रहने वाली सामान्यत्व नाम की कोई जाति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि फिर उस जाति में भी रहने वाली एक और जाति माननी पडेगी। इस प्रकार एक शृङ्खला आरम्भ हो जाएगी जिसका कहीं अन्त न होने से अनवस्था दोष हो जाएगा।[२२]

५.रूपहानि- कौण्डभट्ट के अनुसार 'आकाशत्व' अथवा 'घट' जाति नहीं हो सकते, क्योंकि सामान्य का लक्षण है- 'नित्यमेकमनेकसमवेतत्व' अर्थात् नित्य तथा एक होते हुए भी अनेक में समवायसम्बन्ध से रहना। तदनुसार आकाशत्व यद्यपि नित्य है, एक है, किन्तु अनेकानुगत न होने से जाति नहीं है। उसी तरह घट भी एक तो है किन्तु न तो नित्य है और न ही अनेकों में समवेत। अतः 'आकाशत्व' अथवा 'घट' में जाति मानने से सामान्य के 'नित्यमेकमनेकसमवेतत्वरूप' की हानि हो जाएगी।[२३]

६.असम्बन्ध- समवाय यद्यपि नित्य है, एक है तथा अनेकानुगत है, किन्तु सम्बन्ध के अभाव से समवाय में समवायत्व जाति नहीं रह सकती,[२४] क्योंकि जाति अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से ही रहती है। अतः यदि 'समवायत्व' को जाति माना जाए तो वह भी समवायसम्बन्ध से ही रहेगी, किन्तु समवाय में दूसरा समवाय रहे, यह सम्भव नहीं। इसलिए यदि समवाय में रहने वाली 'समवायत्व' जाति मानी जाएगी, तो उस जाति का अपने व्यक्ति 'समवाय' में रहने का कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता। इस प्रकार सम्बन्ध का न बन सकना (सम्बन्ध का अभाव) ही 'समवायत्व' नामक जाति के मानने में बाधक है। अतः 'समवायत्व' भी जाति नहीं, प्रत्युत उपाधि है।

कौण्डभट्ट द्वारा वर्णित षड्विध जातिबाधकों के उपर्युक्त विवेचन से कुछ विशिष्ट तथ्य निकल कर सामने आते हैं, जो निम्नलिखित हैं-

१. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अन्य ग्रन्थ जहाँ व्यक्त्यभेद नामक जातिबाधक में 'आकाशत्व' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं,[२५] वहीं कौण्डभट्ट ने इसे (आकाशत्व को) रूपहानि के उदाहरण के रूप में उपस्थापित किया है।

२. व्यक्त्यभेद के उदाहरण के रूप में कौण्डभट्ट ने

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

'घटत्व' एवं 'कलशत्व' को लिया है, जबकि अन्य ग्रन्थों में इन्हें तुल्यत्वजातिबाधक का उदाहरण बनाया गया है।[२६]

३. कौण्डभट्ट ने तुल्यव्यक्तिकत्व जातिबाधक में 'द्रव्यत्व' एवं 'गुणाश्रयत्व' को उदाहरण बनाकर सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत की है जबकि ये दोनों उदाहरण अन्य ग्रन्थों में अप्राप्त हैं।

४. प्रथम दो जातिबाधकों के सन्दर्भ में प्रश्न हो सकता है कि जिस तरह 'घटत्व' एवं 'कलशत्व' एक ही व्यक्ति में रहते हैं, उसी प्रकार 'द्रव्यत्व' एवं 'गुणाश्रयत्व' भी तो एक ही व्यक्ति में आश्रित होते हैं, तो फिर ऐसे समान उदाहरणों के लिए दो भिन्न-भिन्न जातिबाधक क्यों? 'पदार्थदीपिका' के सूक्ष्म अवलोकन से इस प्रश्न का समाधान हो जाता है- प्रथम जातिबाधक व्यक्त्यभेद के उदाहरणरूप 'घटत्व' एवं 'कलशत्व' धर्मो में परस्पर कोई भेद नहीं है अपितु ये दोनों पर्यायवाची ही हैं, किन्तु द्वितीय जातिबाधक के उदाहरण 'द्रव्यत्व' एवं 'गुणाश्रयत्व' पर्यायवाची नहीं हैं अपितु दोनों भिन्न-भिन्न धर्म हैं, केवल उनका आश्रय एक है।

५. सङ्कर नामक जातिबाधक को समझाने के लिये आचार्य ने 'शरीरत्व' एवं 'पृथिवीत्व' जैसे सरल उदाहरणों का सहारा लिया है जबकि अन्य ग्रन्थों में मुख्य रूप से 'भूतत्व' एवं 'मूर्त्तत्व' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[२७]

६. रूपहानि जातिबाधक को अन्य ग्रन्थ 'विशेषत्व' उपाधि के माध्यम से समझाते हैं,[२८] वहीं कौण्डभट्ट ने इसको 'आकाशत्व' एवं 'घट' के माध्यम से स्पष्ट किया है।

७. '**स च बाधकसङ्ग्रह प्राचीनैरुक्तः**' कहकर अपने जातिबाधक-विवेचन को कौण्डभट्ट ने प्राचीन न्याय-वैशेषिक आचार्यो के द्वारा सम्पोषित किया है। यहाँ प्राचीनों से तात्पर्य उदयनाचार्य आदि से है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने ही किरणावली में जातिबाधकसङ्ग्रह का विवेचन प्रस्तुत किया है।[२९]

८. तर्कसङ्ग्रह एवं तर्कभाषा जैसे ग्रन्थों में जातिबाधकों की कोई चर्चा विद्यमान नहीं है। यद्यपि कारिकावली में एक कारिका के माध्यम से जातिबाधकों का परिगणन तो किया है, किन्तु उनकी व्याख्या नहीं की जबकि कौण्डभट्ट ने जातिबाधकों को उदाहरणों के माध्यम से विस्तार से व्याख्यायित किया है।

सामान्य के प्रकार -आचार्य कौण्डभट्ट के अनुसार सामान्य तीन प्रकार का है- परसामान्य, अपरसामान्य एवं परापरसामान्य।[३०]

१. परसामान्य- सभी सामान्यों (जातियों) की अपेक्षा जो व्यापक हो, वह परसामान्य कहलाता है। जैसे- सत्ता परसामान्य है।[३१]

२. अपरसामान्य- अन्य सामान्यों की अपेक्षा जो अव्यापक हो, वह अपरसामान्य कहलाता है। जैसे- परिमाणभेद से भिन्न बाल्य, कौमार आदि से युक्त शरीरों में देवदत्तत्व आदि अपरसामान्य के उदाहरण हैं।[३२]

३. परापरसामान्य- जो किसी सामान्य की अपेक्षा व्यापक हो एवं किसी सामान्य की अपेक्षा व्याप्य, वह परापरसामान्य कहलाता है। जैसे- द्रव्यत्वादि। यह पृथिवीत्व एवं घटत्वादि की अपेक्षा व्यापक है तथा सत्ता (परसामान्य) की अपेक्षा व्याप्य है। अतः द्रव्यत्वादि परापरसामान्य के उदाहरण हैं।[३३]

ध्यातव्य है कि प्रशस्तपादभाष्य, न्यायलीलावती, उपस्कार, कणादरहस्य, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली एवं तर्कसङ्ग्रह आदि ग्रन्थों में सामान्य के स्पष्टतः दो ही भेद किये गए हैं।[३४] अतः उल्लेखनीय है कि कौण्डभट्ट ने सर्वप्रथम सामान्य के स्पष्टतः तीन भेद स्वीकार किये हैं। यद्यपि जगदीश भट्टाचार्य ने भी अपने ग्रन्थ तर्कामृत में व्यापक, व्याप्य एवं व्याप्यव्यापक के भेद से सामान्य के तीन ही भेद स्वीकार किये हैं[३५] एवं डा. बद्रीनाथसिंह ने कहा भी है कि- 'जगदीशभट्टाचार्य ने ही प्रथमतया सामान्य को तीन प्रकार से विभाजित किया,'[३६] किन्तु ज्ञातव्य है कि जगदीश एवं कौण्डभट्ट दोनों प्रायः समकालीन ही हैं। इनके कालिक परत्वापरत्व का निश्चित निर्णय नहीं हो पाया है। इसके अलावा जगदीश भट्टाचार्य तीनों भेदों का कोई लक्षण भी प्रस्तुत नहीं करते हैं जबकि कौण्डभट्ट

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

ने साक्षात् पर, अपर एवं परापर शब्दों का उल्लेख करते हुए उनके स्वरूप को लक्षणों एवं उदाहरणों सहित विस्तार से समझाया है।

इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः कौण्डभट्ट ही वे प्रथम दार्शनिक हैं, जिन्होंने सुव्यवस्थित रूप से सामान्य को पर, अपर तथा परापर के रूप में त्रिधा विभाजित किया है।

सन्दर्भसूची-

१. न्या. सू. २. २. ६८

२. या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्त्तन्ते योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम्। यच्च केषाञ्चिदभेदं कुतश्चिद्भेदं करोतीति तत् सामान्यविशेषो जातिरिति। - न्या. भा. २.२.६८, पृ. २९२

३. प्र. पा. भा., पृ. २७६

४. 'The two concepts of smnya and jti were separate in the beginning and it is in later logical thought that they were identified...the two concepts of jti and smnya were soon indentified and indiscriminately used.'-S.S.Barlingay, MIL, p.८८

५. (क) नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतं सामान्यम्। मा. मनो., पृ. १२६
(ख) नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्।-न्या. सि. मु., पृ. २३
(ग) नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्।-त. सं., पृ. २२३
(घ) सामान्यं नित्यमेकमनेकसमवेतम्। -स. प., पृ. ५०

६. नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यम् । - प. दी., पृ. ७०

७. संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय नित्यत्वमिति। - त. दी., पृ. २२३ तथा - नित्यत्वविशेषणानुपादाने संयोगादावतिव्याप्तिस्तत्राप्य-नेकद्रव्यसमवेतत्वस्य सत्त्वात् तद्वारणाय नित्यत्वोपादानम्। - न्या. बो. (त. सं.), पृ. ६१

८. अत्रैकमिति प्रामादिकम्। - नृ. प्रका., पृ. ३८५

९.एकपदं स्वरूपकीर्तनमात्रपरमिति द्रष्टव्यम्।-प्रकाशिका,पृ.३०९

१०. मा. मनो. पृ. १२६य न्या. सि. मु., पृ. २३

११. त. सं., पृ. २२५

१२.अनेकत्वानुपादान-आकाशगतैकत्वपरिमाणादौ जलपरमाणु-रूपादौ चातिव्याप्तिर्जलादिपरमाणुगतरूपादेराकाशगतैकत्व-परिमाणादेर्नित्यत्वात् समवेतत्वाच्च।न्या.बो.(त. सं.),पृ. ६१

१३.(क) अनुगतत्वं समवेतत्वम्। तेन नाभावादावतिव्याप्तिः।-त. दी. , पृ. २२३,(ख)नित्यत्वे सत्यनेकवृत्तित्वमत्यन्ता-भावस्याऽप्यस्ति, अतो वृत्तित्वसामान्यं विहाय समवेतेत्युक्तम्। -न्या.बो.(त.सं.),पृ.६१

१४. वै. द. प. नि. पृ. ४७१

१५. वै. द. प. नि., पृ. ४९२

१६.घटत्वात्कलशं न पृथक् जातिः,तद्व्यक्त्यभेदात्।-प.दी.,पृ.७१

१७. द्रव्यत्वाद् गुणाश्रयत्वं न जातिः, तुल्य व्यक्तिकत्वात्। - वही

१८.परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः।-प.दी.,पृ. ७१

१९. शरीरत्वं न जातिः, पृथिवीत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्। - वही

२०. पृथिवीत्वं विना तैजसादिशरीरे शरीरत्वं वर्तते, शरीरत्वं विना च घटादौ पृथिवीत्वम्, तदुभयमस्मदादिशरीरे।-प.दी.,पृ. ७१

२१. Shastri, CIR, P- ३२६ (उद्धृत-वै.द.प.नि.,पृ. ४९३)

२२.सामान्यत्वं न जातिस्तत्रापि सामान्यस्वीकारेऽनवस्थाऽऽत्मा-श्रयान्यतरापत्तेः।-प.दी.,पृ. ७१

२३. आकाशत्वं घटो वा न जातिर्नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यमिति रूपहानात्।-प.दी.,पृ. ७२

२४. समवाय उक्तलक्षणाक्रान्तोऽपि न जातिः सम्बन्धविरहात्। -प. दी.,पृ.७१

२५. दिनकरी, पृ. ७७

२६. वही, पृ. ७७

२७. दिनकरी, पृ. ७७

२८. दिनकरी, पृ. ७८-७९

२९. किरणा., पृ. ३३

३०. तच्च सामान्यं त्रिविधं परमपरं परापरञ्च। - प. दी., पृ. ७२

३१. सकलसामान्यव्यापकं परम्, सत्ता यथा। - वही

३२.सामान्यान्तराऽव्यापकम्। परिमाणभेदेन भिन्नेषु बाल्यकौमा-रादियुक्तशरीरेषु देवदत्तत्वादि। - वही

३३. यस्य कस्यचित् सामान्यस्य व्यापकं कस्यचित् व्याप्यं चान्त्यम्। द्रव्यत्वादि यथा। पृथिवीत्वादेर्घटत्वादेर्व्यापकं सत्ताव्याप्यं च।-वही

३४. प्र. पा. भा., पृ. ५, न्या. ली., पृ. १००, वै. सू. उप., पृ. ७८, क. र., पृ. १६३, न्या. सि. मु., पृ. २३, त. सं., पृ. २२३

३५. सामान्यं त्रिविधम् - व्यापकं व्याप्यं व्याप्यव्यापकञ्च। व्यापकं सत्ता, व्याप्यं घटत्वादि, द्रव्यत्वादि व्याप्य-व्यापकम्। - तर्कामृतम्, पृ. ३२

३६. वै. द. तु. अ., पृ. १४८

- राजकीय महिला महाविद्यालय
कोटा, सहारनपुर (उ.प्र.)

घर बैठे पढ़ने के लिए क्लिक करें - www.pranwanand.org

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

पदसंज्ञा विमर्श

❑ निखिल आर्य, शोधच्छात्र...✍

पदसंज्ञा विधान करने वाला 'सुप्तिङन्त पदम्' (अष्टा.-१/४/१४) है। इस सूत्र की व्याख्या में जयादित्य कहते हैं कि 'सुप्तिङ् इति प्रत्याहारग्रहणम्। सुबन्तं तिङन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति। ब्राह्मणाः पचन्ति। पदसंज्ञायाम् अन्तग्रहणम् अन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधेः प्रतिषेधार्थम्। गौरी ब्राह्मणितरा। पदप्रदेशाः - पदस्य (अष्टा.-८/१/१६), पदात् (अष्टा.-८/१/१७) इत्येवमादयः। (काशिका-१/४/१४) यहाँ पर 'सुप्तिङन्तम्' इस पद में द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि समास है। जिसको हम ऐसे विग्रहित कर सकते हैं। यथा - सुप् च तिङ् च =सुप्तिङौ अन्ते यस्य तत् सुप्तिङन्तम्। यहाँ पर सुप् और तिङ् ये प्रत्याहार ग्रहण हैं। 'सुप्' प्रत्याहार सु-औ-जस् आदि प्रत्ययों के ज्ञानार्थ है तथा 'तिङ्' तिप्, तस्, झि इत्यादि प्रत्ययों के ज्ञानार्थ हैं। सुप् प्रत्याहार का वर्णन पाणिनि ने 'स्वौजसमौट्..' (अष्टा.-४/१/२) इस सूत्र में किया है। इसमें सु से लेकर सुप् प्रत्यय तक 'आदिरन्त्येन संहिता' (अष्टा.-१/१/७०) इस प्रत्याहार विधायक सूत्र की सहायता से सु से लेकर सुप् के प् तक सुप् प्रत्याहार बनता है। सुप् प्रत्यय केवल प्रातिपदिकों से ही होते हैं। वैसे ही तिङ् प्रत्याहार का वर्णन पाणिनि ने 'तिप्तस्झि..' (अष्टा.-३/४/७८) इस सूत्र में किया है। इसमें तिप् से लेकर महिङ् तक तिङ् प्रत्याहार 'आदिरन्त्येन सहेता' (अष्टा.-१/१/१७) सूत्र की सहायता से तिप् के ति से लेकर महिङ् के ङ् तक बनता है। तिङ् प्रत्याहार से १८ प्रत्ययों का ज्ञान होता है। प्रत्याहारों की यह विशेषता होती है कि वे बड़ी बात को अतिसंक्षेप में कहने का सामर्थ्य रखते हैं। इसीलिए प्रत्याहार की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'प्रत्याह्रियन्ते सङ्क्षिप्यन्ते वर्ण यस्मिन् स प्रत्याहारः'।

यहाँ पर सूत्र में 'येन विधिस्तदन्तस्य' (अष्टा.-१/१/७१) इससे तदन्त विधि की गयी है। जिसके कारण सूत्रार्थ में जयादित्य ने सुबन्त तथा तिङन्त शब्दरूप की पदसंज्ञा होती है ऐसा कहा है यहाँ पर उदाहरणरूप में 'ब्राह्मणाः पचन्ति' ऐसा उदाहरण प्रदर्शित किया है। यहाँ ब्राह्मण+जस्=ब्राह्मणास् यह स्थित बनने पर 'सुप्तिङन्तं पदम्' (अष्टा.-१/४/१४) से पदसंज्ञा होकर 'पदस्य' (अष्टा.-८/१/१६) के अधिकार में 'ससजुषो रुः' (अष्टा.-८/२/६६) इस सूत्र से रुत्व होकर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (अष्टा.-८/३/१५) इस पदाधिकार में अभिहित सूत्र से विसर्जनीय होकर 'ब्राह्मणाः' ऐसा पद बनता है। यह उदाहरण सुबन्त का है। 'पचन्ति' यह उदाहरण तिङन्त का है। 'पचन्ति' में तिङन्त की पदसंज्ञा होकर 'पदस्य' (अष्टा.-८/१/१६) के अधिकार में 'तिङ्ङतिङः' (अष्टा.-८/१/२८) से अतिङ से तिङ् को सर्वानुदात्त विधान होता है। इसीलिए 'ब्राह्मणाः पचन्ति' में सर्वानुदात्त हो गया है।

यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि मात्र 'सुप्तिङ् पदम्' ऐसा सूत्र बनाकर भी कार्य चल सकता था। क्योंकि 'येन विधिस्तदन्तस्य' (अष्टा.-१/१/७१) इस परिभाषा सूत्र से यहाँ तदन्तविधि का विधान होकर सुबन्त और तिङन्त की ही पदसंज्ञा होती है। पुनरपि यहाँ सूत्र में पूर्वतः ही अन्तग्रहण इसीलिए किया गया है कि अन्यत्र संज्ञाविधि में प्रत्यय करने पर कहीं भी तदन्तविधि न हो। यह तदन्तविधि केवल पदसंज्ञा विधान में ही हो। काशिकाकार उदाहरण देते हुए कहते हैं कि 'गौरी ब्राह्मणितरा' यहाँ पर 'तरप्तमपौ घः' (अष्टा.-१/१/२१)इस सूत्र से तरप् प्रत्यय की घसंज्ञा का विधान किया गया है। तरबन्त सम्पूर्ण ब्राह्मणी की यहाँ घसंज्ञा नहीं है। जिसके कारण 'घरूपकल्प' (अष्टा.-६/३/४२) इस सूत्र से यहाँ

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

केवल ब्राह्मणी शब्द को ही ह्रस्व होता है। गौरी पद को ह्रस्व नहीं हुआ है। यह सूत्र घप्रत्यय परे रहने पर पूर्व को ही ह्रस्व करता है। इसीलिए संज्ञाविधायक सूत्रों में केवल पदसंज्ञा विधायक सूत्र में ही तदन्त विधि होती है। अन्यसंज्ञाविधायक सूत्रों में नहीं।

पाणिनि ने पदसंज्ञा विधायक अग्रिम सूत्र का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'नः क्ये' (अष्टा.-१/४/१५)। इस सूत्र की व्याख्या में जयादित्य कहते हैं कि 'क्ये इति क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्यग्रहणम्। नान्तं शब्दरूपं क्ये परतः पदसंज्ञं भवति। क्यच् राजीयति। क्यङ् - राजायते। क्यष् - वर्मायति, वर्मायते। चर्मायति, चर्मायते। सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः नान्तमेव क्ये परतः पदसंज्ञं भवति, नान्यत्। वाच्यति। सुच्यति। अर्थात् प्रकृतसूत्र में 'क्ये' के द्वारा क्यच् क्यङ् और क्यष् इन तीनों प्रत्ययों का ग्रहण सामान्यरूप से किया गया है। क्यच् प्रत्यय का विधान 'सुप आत्मनः क्यच्' (अष्टा.-३/१/८) सूत्र से क्यष् का 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' (अष्टा.-३/१/१३) सूत्र से क्यङ् का 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (अष्टा.-३/१/११) सूत्र से विधान किया गया है। ये सभी प्रत्यय नामधातु का निर्माण करते हैं। 'क्ये' इस सङ्केत से इन्हीं तीनों का ग्रहण किया गया है। नकारान्त शब्द इन तीनों प्रत्ययों के परे रहने पर पदसंज्ञक होता है। क्यच् प्रत्यय का उदाहरण 'राजीयति' दिया गया है। यहाँ पर क्यच् के परे रहते राजन् की पदसंज्ञा होने से ही 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से न लोप सिद्ध हुआ है। क्यङ् का उदाहरण यहाँ हुए नलोप पदसंज्ञा के कारण ही प्राप्त हुआ है, अन्यथा न लोप अप्राप्त था। क्यष् का उदाहरण 'वर्मायति, वर्मायते' दिया गया है। यहाँ एक उदाहरण परस्मैपद व एक आत्मनेपद में दिया गया है, क्योंकि 'वा क्यषः' (अष्टा.-१/३/९०) से क्यषन्त धातु उभयपदी होती है। उक्त उदाहरण में भी पदसंज्ञा होने के कारण ही नकार लोप सिद्ध हुआ है। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि राजन् आदि की पद संज्ञा तो 'सुप्तिङन्तं पदम्' (अष्टा.-१/४/१४) से सिद्ध ही है फिर पुनः पदसंज्ञा का क्या प्रयोजन है? उक्त सन्दर्भ में काशिककार सूत्र प्रयोजन प्रदर्शित करते हुए कहते है कि यह सूत्र नियमार्थ है कि नकारान्तौ की पदसंज्ञा क्यच् आदि प्रत्ययों के परे रहते ही होती है। अन्यत्र किसी और प्रत्यय के परे रहते नकारान्तों की पदसंज्ञा नहीं होती है। जैसे 'वाच्यति' 'सुच्यति' यहाँ पर भी क्यच् प्रत्यय हुआ है, परन्तु नकारान्त न होने से पदसंज्ञा नहीं हुई है, जिसके कारण 'चोः कुः' (अष्टा.-८/२/३०) से कुत्व नहीं हुआ है।

पदसंज्ञा का विस्तार करते हुए पाणिनि अग्रिम सूत्र लिखते हैं 'सिति च' (अष्टा.-१/४/१६) उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए काशिकाकार कहते हैं कि 'यचि भम्' (अष्टा.-१/४/१८) इति वक्ष्यति तस्यायं पुरस्तादपवादः। सिति प्रत्यये परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति। 'भवतष्ठक्छसौ' (अष्टा.-४/२/११५) भवदीयः। 'ऊर्णाया युस्' (अष्टा.-५/२/१२३) ऊर्णायुः। 'ऋतोरण्' (अष्टा.-५/१/१०५) 'छन्दसि घस्' (अष्टा.-५/१/१०६) ऋत्वियः। अर्थात् उक्त प्रकरण के पश्चात् 'यचि भम्' सूत्र का कथन करेंगे। उक्त सूत्र का यह अपवाद सूत्र है। यह सूत्र कहता है कि सित् प्रत्यय परे रहने पर पूर्ववर्ती की पदसंज्ञा होती है। उदाहरणस्वरूप यहाँ पर 'भवदीयः' दिया गया है। भवत् शब्द से (अष्टा.-४/२/११५) से छस् प्रत्यय करने पर 'भवत्+छ' तथा छ को 'आयनेयी...' (अष्टा.-७/१/२) से छ को ईय् आदेश होने पर 'भवत्+ईय' इस स्थिति में सित् छस् प्रत्यय के परे रहते उक्त सूत्र से पद संज्ञा होने पर ही 'झलां जशोऽन्ते' (अष्टा.-८/२/३९) से त् को द् होना सम्भव होकर 'भवदीयः' बनता है। भ संज्ञा का पुरस्ताद् अपवाद कहने का क्या प्रयोजन है? इस कथन की पुष्टि में यहाँ पर 'ऊर्णायुः' उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि ऊर्णा शब्द से (अष्टा.-५/२/२३) युस् प्रत्यय होने पर 'ऊर्णा+युस्' इस

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

परिस्थिति में उक्त सूत्र से सित् प्रत्यय परे होने के कारण ही यहाँ पद संज्ञा हुई। पदसंज्ञा होने के कारण 'यचि भम्' (अष्टा.-१/४१/१८) से प्राप्त भसंज्ञा का प्रतिषेध हो गया है। क्योंकि इस पदसंज्ञा प्रकरण में एक ही संज्ञा होती है। जिसके कारण पद संज्ञा होकर भसंज्ञा का अभाव हो गया और 'यस्येति च' से ऊर्णा के आ का लोप नहीं हुआ है। इसी प्रयोजन से यहाँ पदसंज्ञा का बाधक माना गया है। अग्रिम उदाहरण में भी ऋतु शब्द से (५/१/१०६) से घस् प्रत्यय होकर 'ऋतु+घस्' 'आयनेयी...' (अष्टा०-७/१/२) से इयादेश होकर 'ऋतु+इय' इस दशा में उक्तसूत्र से पदसंज्ञा होने के कारण भसंज्ञा के अभाव में 'इको यणचि' (अष्टा.-६/१/७७) से यणादेश हुआ है। यदि यहाँ पदसंज्ञा न होती तो भसंज्ञा होकर 'ओर्गुण:' (अष्टा.-६/४/१४६) से गुण प्राप्त होने लग जाता। इसी कारण यहाँ पदसंज्ञा की गयी है।

पदसंज्ञा की व्याख्या करते हुए महर्षि पाणिनि अष्टाध्यायी में आगे सूत्र लिखाते हैं 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (अष्टा.-१/४/१७)। इस सूत्र की व्याख्या में जयादित्य कहते हैं कि 'स्वादिषु इति सुशब्दादेकवचनात् आरभ्य आकप: प्रत्यया गृह्यन्ते। स्वादिषु प्रत्ययेषु परत: सर्वनामस्थानवर्जितेषु पूर्वं पदसंज्ञं भवति। राजभ्याम्, राजभि:। राजत्वम्, राजता। राजतर:, राजतम:। असर्वनामस्थाने इति किम्? राजानौ राजान:।' अर्थात् स्वादि से यहाँ तात्पर्य सु से लेकर कप् प्रत्यय तक प्रत्ययों का ग्रहण किया जाता है। सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्ययों से अतिरिक्त स्वादि प्रत्यय परे रहने पर पूर्ववर्ती की पदसंज्ञा होती है। यथा - राजभ्याम्। यहाँ पर राजन्+भ्याम् इस दशा में भ्याम् इस स्वादिप्रत्यय के परे रहते राजन् की पदसंज्ञा होने के कारण ही 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' इस सूत्र से नलोप हुआ है। यही यहाँ पद संज्ञा का प्रयोजन है। सूत्र में असर्वनामस्थान इसीलिए कहा है कि 'राजानौ, राजान:' यहाँ पर पदसंज्ञा न होकर नलोपाभाव हुआ है। क्योंकि 'सुडनपुंसकस्य' (अष्टा. -१/१/४३) सूत्र से सु, औ, जस्, अम, औट् की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। 'राजानौ' में सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय परे रहने के कारण ही पदसंज्ञा का अभाव हुआ है। इसप्रकार उक्त सूत्रों में पदसंज्ञा का वर्णन किया जाता है। इसप्रकार उक्त सूत्रों के कारण ही पदसंज्ञा का अभाव हुआ है। इस प्रकार उक्त सूत्रों कारण ही पदसंज्ञा का वर्णन किया गया है। यहाँ यह ध्यातव्यक है कि जिस स्थान पर उक्त सूत्र पदसंज्ञा करते है वहीं पर पदाधिकार में अभिहित सूत्र कार्य करते हैं।

उपर्युक्त पदसंज्ञा विधायक सूत्रों की व्याख्या आचार्य विश्वेश्वरसूरिविरचित ग्रन्थ व्याकरणसिद्धान्त सुधानिधि में प्राय: काशिका के समान ही की गयी है। उदाहरण में भी परम्परागत महाभाष्य एवं काशिका के उदाहरणों को दिया गया है। परन्तु 'न: क्ये' इस पद से केवल क्यच् और क्यङ् का ही ग्रहण किया गया है। यहाँ पर आचार्य विश्वेश्वर कहते हैं कि यहाँ पर क्यष् का ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि क्यष् प्रत्यय साक्षात् नकारान्तपदों से विहित नहीं किया गया है। उनका कहना है कि महाभाष्यकार ने भी उक्त सूत्र में क्यष् का ग्रहण नहीं किया है। उनका पदसंज्ञाविधायक अन्य सभी सूत्रों का व्याख्यान जयादित्य के व्याख्यान के समान ही है।

पदसंज्ञा में नागेश का मत - 'सुप्तिङन्त पदम्' सूत्र की व्याख्या करते हुए नागेश लघुशब्देन्दुशेखर के संज्ञाप्रकरण में कहते हैं कि इस सूत्र में जो 'सुप्' यह पद आया है वह प्रथमा के एकवचन 'सु' प्रत्याहार से बना है। जिसमें इक्कीस विभक्तियाँ आ जाती है। प्रश्न होता है कि सुप् पद से यहाँ उपर्युक्त सुप् प्रत्याहार ही लिया जाय इसमें क्या प्रमाण है? इसका उत्तर नागेश देतें हैं कि 'व्याख्यानात्' अर्थात् व्याख्यान के आधार पर ही यहाँ सुप् प्रत्याहार लिया जाता है। यदि इस प्रकार सुप् प्रत्याहार न लेकर प्रतिपदोक्तृवात् सप्तमी का

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

बहुवचन सुप् प्रत्यय ही लिया जाय तब केवल तदन्त की ही पद संज्ञा होगी। ऐसी स्थिति में ङि और सम्बुद्धि में पद संज्ञा न हो सकेगी और जब वहाँ पद संज्ञा ही नहीं होगी तब 'हे राजन्' इस प्रयोग मे तथा 'परमे व्योमन्' इस वैदिक सप्तम्यन्त प्रयोग में नकार का लोप प्राप्त ही नहीं होगा। ऐसी स्थिति में उक्त दोनों प्रयोगों में नकार के लोप का निषेध करने के लिए 'न ङि सम्बुद्धयो:' इस सूत्र की क्या आवश्यकता है? इससे यह ज्ञापक प्राप्त होता है कि सुप् सप्तमी का ही बहुवचन न होकर अपितु सुप् प्रत्याहार होगा। दूसरी बात यह है कि तिङ् यह पद ति शब्द आद्यवयवक और ङकार अन्त्यावश्यक तिङ् प्रत्याहार का बोधक है। उसके साहचर्य से भी यहाँ सुप् यह पद उपर्युक्त प्रकार से कथित प्रत्याहार का ही बोधक है।

यहाँ पर 'सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, तौ अन्ते यस्य' इस विग्रह में द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि करके अन्तशब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध किया जाता है, जिससे सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा होती है। अब यहाँ यह शंका होती है कि यहाँ तदादि शब्दस्वरूप इस विशेष्य को लेकर तथा सुप्तिङ् को उसका विशेषण बनाकर 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहित:' (परिभाषेन्दुशेखर:) इस परिभाषा से तदन्तविधि करके सुबन्त और तिङन्त तदादि की पदसंज्ञा जब स्वत: सिद्ध है तो उसके लिए सूत्र में अन्त ग्रहण की क्या आवश्यकता है? कुछ प्राचीन आचार्य यहाँ प्रत्यय से स्वप्रकृत्यवयवक समुदाय का आक्षेप करके सुप्तिङ् को उसका विशेषण बनाकर तदन्तविधि करते हैं, किन्तु उनका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यय के द्वारा स्वप्रकृत्यवयवक समुदाय का आक्षेप तब सम्भव है जब जहाँ जहाँ प्रत्यय रहे वहाँ सब जगह उसकी प्रकृति भी साथ में लगी रहे। ऐसी स्थिति में प्रत्यय से स्वप्रकृत्यवयवक समुदाय का आक्षेप हो सकता है किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। क्योंकि 'इयान्' इस प्रयोग में तस्य=प्रत्यय का तादृशसमुदाय से स्वप्रकृत्यवयवक समुदाय से व्यभिचार देखा जाता है। यहाँ तो केवल प्रत्ययमात्र है, उसकी प्रकृति यहाँ नहीं है। इसीलिए नहीं कहा जा सकता कि जहाँ जहाँ प्रत्यय रहता है वहाँ सब जगह उसके साथ में रहती है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए 'इयान्' प्रयोग भी सिद्धि को समझ लेना चाहिए। इदम् शब्द से 'इदं परिमाणं यस्य' इस विग्रह में 'किमिदम्भ्यां वो घ:' (अष्टा.-५/२/४०) सूत्र से वतुप् प्रत्यय और उसके वकार को घकार कर दिया जाता है। इस घ को इय् आदेश (७/१/२) होता है। इसके बाद 'इदं किमोरीश्की' सूत्र से इदम् को 'ईश्' आदेश करने पर 'ई+इयत्' इस स्थिति में भसंज्ञा करके रूपान्तर में परिणत प्रकृति 'ई' का 'यस्येति च' (अष्टा.-६/४/१४८) इस सूत्र से लोप हो जाता है। इस प्रकार यहाँ केवल तद्धित प्रत्ययमात्र 'इयत्' यह अंश अवशिष्ट रहता है, जिसकी व्यपदेशिवद् भाव से तद्धितान्त मानकर प्रातिपदिक संज्ञा होती है। और उसका प्रथमा के एकवचन में 'इयान्' यह रूप बनता है। स्पष्ट है कि यहाँ केवल प्रत्ययमात्र है। इसीलिए प्रत्यय से स्वप्रकृत्यवयवक समुदाय के आक्षेप की बात करना असंगत है। यदि कहा जाय कि प्रत्यय के साथ प्रकृति यहाँ भले न हो किन्तु 'इयान्' की प्रक्रिया दशा में उसकी प्रकृति तो साथ में थी, इसीलिए उसके आक्षेप में कोई बाधा नहीं है। इसका उत्तर देते हुए नागेश कहते हैं कि आक्षिप्त का शब्दबोध में अन्वय ही नहीं होता, क्योंकि शाब्दी आकांक्षा की पूर्ति शब्द के द्वारा होती है, आक्षेप के द्वारा तदादि की उपस्थिति और तद्विशेष्यक तदन्तविधि 'येन विधिस्तदन्तस्य' (अष्टा. -१/१/७२) सूत्र से ही सिद्ध है तो सूत्र में अन्त ग्रहण की क्या आवश्यकता है?

उक्त प्रश्न के सन्दर्भ में नागेश कहते हैं कि उपर्युक्त प्रकार से अन्तग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'संज्ञा विधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' (परिभाषा) अर्थात् संज्ञाविधि में प्रत्ययमात्र

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

बोधक पद तदादि विशेष्यक तदन्तोपस्थापक नहीं होता है। इस परिभाषा के ज्ञापन का फल यह होता है कि 'तरप्तमपौ घ:' (अष्टा.-१/१/२२) इस सूत्र से विधेय घसंज्ञा तरप् और तमप् प्रत्ययों की ही होती है, न कि तरबन्त और तमबन्त की। इसका परिणाम यह होता है कि 'गौरी ब्राह्मणितरा' इस प्रयोग में तरबन्त 'ब्राह्मणितरा' के पर में रहने गौरी शब्दावयव ईकार को ह्रस्व नहीं होता, क्योंकि 'ब्राह्मणितरा' यह तरबन्त घसंज्ञक नहीं है। ब्राह्मणितरा में तो ह्रस्व होता ही है, क्योंकि यहाँ घसंज्ञक तरप् प्रत्यय पर में है।

अब यहाँ एक यह आशंका हो रही है कि घसंज्ञा में उपर्युक्त ज्ञापित परिभाषा के कारण यद्यपि तदन्तविधि नहीं हुई किन्तु 'घरूपकल्प..' (अष्टा.) इत्यादि जो विधिप्रदेश हैं वहाँ तो तदन्तविधि हो ही जायेगी, जिससे अनिष्टरूप की आपत्ति यथावत् रह जाती है। इस शंका का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि 'एतन्निषेधसंज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे' इस निषेध के सामर्थ्य से प्रदेशेषु=घरूपकल्प इत्यादि विधिप्रदेशों में भी तदन्तविधि नहीं होती है, इसलिए कोई दोष नहीं होता है।

नागेश का इस विषय में कहना है कि यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'हृदयस्य हृल्लेख..' (अष्टा.) इस सूत्र में किये गये 'ऊण्' ग्रहण से यह ज्ञापन किया जाता है कि सप्तम्यन्त प्रत्ययग्रहण में तदन्तविधि नहीं होती है। घरुपकल्प इत्यादि सप्तम्यन्त पद है ही, अत: यहाँ तदन्तविधि का प्रश्न ही नहीं है। अब यहाँ यह शंका हो रही है कि 'सुप्तिङन्तं पदम्' (अष्टा.) इस सूत्र के अन्तग्रहण से 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' (परिभाषेन्दुशेखर:) इस परिभाषा को ज्ञापित करने पर भी अन्तग्रहण व्यर्थ ही है, क्योंकि उसके अभाव में भी सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा सिद्ध है। यदि यह कहा जाए कि इस परिभाषा से निषेध की स्थिति में बिना अन्तग्रहण के सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा कैसे सिद्ध है? तो इसका उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं कि अन्तग्रहण के अभाव में सुप् और तिङ् इन दोनों का ग्रहण होगा और इन दोनों के प्रत्ययमात्र - बोधक होने के कारण 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा से तदादि विशेष्यक तदन्तविधि करके सुबन्त और तिङन्त तदादि का बोध हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि सुप् और तिङ् की पदसंज्ञा करने पर भी पद शब्द से सुबन्त और तिङन्त ही लिये जायेंगे। इस प्रकार अन्तग्रहण की आवश्यकता नहीं रह जाती है। यहाँ एक बात अवश्य ध्यातव्य है कि शेखर के मूल में इस प्रसंग में जो 'पदप्रदेशे' यह पद कहा गया है उसके पहले 'प्रत्ययोरेव पदसंज्ञायामपि' इतना पाठ जोड़कर तब शेखर के सार को समझना चाहिए, क्योंकि अन्तग्रहण के अभाव में सुप् और तिङ् इन प्रत्ययों की ही पदसंज्ञा होगी।

उक्त शंका का समाधान करते हुए नागेश कहते हैं कि यह शंका तब उचित होगी जब पद शब्द से सब जगह सुप् और तिङ् ये दो प्रत्यय ही लिये जाते। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, क्योंकि 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (अष्टा.) इस सूत्र से जो पदसंज्ञा होती है वह सर्वनामस्थानभिन्न हलादि स्वादि प्रत्यय पर में रहने पर प्रकृतिमात्र की होती है। इसप्रकार पदसंज्ञा के प्रकृतिनिष्ठ होने के कारण पदशब्द से सब जगह प्रत्यय (सुप्+तिङ्) का ही ग्रहण हो यह सम्भव नहीं है। अत: पद शब्द से सुप् और तिङ् का ग्रहण कर उनसे तदादि की उपस्थिति कराकर तद्विशेष्यक तदन्तविधि सम्भव न होने के कारण सुबन्त और तिङन्त की पदसंज्ञा करने के लिए अन्तग्रहण की आवश्यकता सिद्ध होती है। उक्त विवेचन नागेश ने पदसंज्ञा के विषय में स्पष्ट किया है।

-संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,नई दिल्ली

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

संस्कृतभाषा की वाच्यव्यवस्था

❑ चमन कुमार, शोधच्छात्र...✍

वाक्य में प्रयुक्त पद साक्षात् और असाक्षात् रूप से क्रियान्वित होते हैं। क्रियान्वित पदों में कदाचित् कर्त्ता की, कदाचित् कर्म की प्रधानता होती है, और जब कर्त्तृ और कर्म की प्रधानता नहीं हाती तब क्रिया ही प्रधानभूत हो जाती है। इस प्रकार कर्त्तृ, कर्म, और क्रिया के प्रधानभूत होने के कारण क्रमशः कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य होते हैं।

वाच्य में जब क्रिया का फलाश्रय और व्यापाराश्रय एक ही होता है तब वह अकर्मक होती यथा- तेन भूयते, जब इसका फलाश्रय और व्यापाराश्रय भिन्न होता है तब वह सकर्मकक्रिया होती है, यथा- रामः फलं खादति, यहाँ खादनक्रिया का व्यापार राम में स्थित है, और उसका फल ''गलविलाधः संयोगः'' फल में स्थित है, अतः फल और व्यापार के भिन्न होने के कारण खाद्-धातु सकर्मक है।[१]

इस प्रकार इस विवरण से जाना जा सकता है कि क्रिया के दो अर्थ होते हैं- व्यापार और फल। तथा कर्म की विद्यमानता और अविद्यमानता के आधार पर क्रिया के दो भेद होते हैं- सकर्मक और अकर्मक। अकर्मक धातु से भाव और कर्त्ता में लकार होते हैं, तद्यथा- आस्यते देवदत्तेन , आस्ते देवदत्तः। सकर्मक से कर्म और कर्त्ता में लकार होते हैं- देवदत्तेन फलं खाद्यते, रामः भोजनं खादति।[२] इस प्रकार जब सकर्मक और अकर्मक दोनों प्रकार की धातुओं से परे लकार कर्त्ता कारक में होता है तो उसको ''लकारों का कर्त्तृवाच्य प्रयोग'' कहा जाता है, जैसे- आस्ते देवदत्तः, रामः भोजनं खादति। परन्तु जब तृतीया विभक्ति से कर्त्ता का बोध होता है तो वहाँ कर्मवाच्य या भाववाच्य का प्रयोग माना जाता है।[३] जिसमें अकर्मक धातु से भाववाच्य एवं सकर्मक धातु से कर्मवाच्य का प्रयोग माना जाता है।

कर्त्तृवाच्य- क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्र रूप से जो विवक्षित होता है वह कारक कर्त्तृ- संज्ञक होता है जैसे-छात्रः पुस्तकं पठति, यहाँ छात्र कर्त्तृसंज्ञक है। इसके अतिरिक्त उस स्वतन्त्र कर्त्ता का जो प्रयोजक अर्थात् प्रेरक उसकी भी कर्त्ता संज्ञा होती है तथा हेतु संज्ञा भी, जैसे- देवदत्तः कटं करोति, तं यज्ञदत्तः प्रयुङ्क्ते- यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति[४], यहाँ यज्ञदत्त कर्तृसंज्ञक है।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार दोनों वाक्य कर्तृवाच्य में है। कर्तृवाच्य में कर्त्ता की प्रधानता होती है। क्रिया के द्वारा कर्त्ता उक्त होने के कारण उसमें प्रथमा विभक्ति होती है[५] तथा कर्म के अनुक्त होने के कारण कर्म में द्वितीया।[६] यहाँ प्रश्न होता है कि किससे अनुक्त ? इसके समाधान वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीकार तिङ्, कृत, तद्धित, समास का उल्लेख करतें हैं[७]। उदाहरण में 'पठन्ति' तिङन्त पद में तिप् कर्त्ता में आया है। अतः उसका समानाधिकरण कर्त्ता के साथ है। फलतः तिङन्त पद कर्त्ता को कह रहा है तथा कर्म अनुक्त बना हुआ है। इस प्रकार अनुक्त में द्वितीया हुई।वस्तुतः क्रिया के द्वारा वाच्य का निर्धारण किया गया है। क्रिया की महत्ता को स्वीकार करते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि एवं कात्यायन ने भी वाक्य का केन्द्र बिन्दु क्रिया को ही मानकर वाक्य की परिभाषा दी है[८]- ''एकतिङ्। आख्यातं साव्यय-कारकविशेषणं वाक्यम्। सक्रियाविशेषणं च। आख्यातं सविशेषम्''[९] अर्थात् वाक्य एक क्रियापद होता है, अव्यय कारक विशेषण से युक्त क्रियापद वाक्य होता है, क्रियाविशेषण से युक्त क्रियापद वाक्य होता है, विशेषण से युक्त क्रियापद वाक्य होता है- इस प्रकार चार प्रकार के वाक्य होते स्वीकार किये हैं।

कर्मवाच्य एवं भाववाच्य-शोध पत्र के प्रारम्भ में किये वर्णन के अनुसार कर्मवाच्य में कर्म मुख्य होता है अर्थात् क्रिया के द्वारा कर्म उक्त होता है।

कर्म में उक्त होता है। कर्म में प्रथमा तथा कर्त्ता में तृतीया होती है।[१०]

कर्म का अर्थ-आचार्य पाणिनि ने कर्म को विस्तार से

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

परिभाषित किया है।

१. कर्त्ता को क्रिया के द्वारा जो ईप्सिततम एवं अनीप्सित है उसको कर्म कहा है, जैसे- रामः भोजनं खादति, यहाँ भोजनं कर्म है[११], विषं भक्षयति, यहाँ विषं कर्मसंज्ञक है।[१२]

२. जिसे अन्य कारकों द्वारा न कहा गया हो उसको, जैसे- पौरवं गां याचते, यहाँ पौरवम् कर्म संज्ञक है। माणवकं पन्थानं पृच्छति।[१३] वस्तुतः दुह्, याच्, पच्, दण्ड्, रुध्, प्रच्छ्, चि, ब्रू, शास्, जि, मथ् तथा मुष् इन बारह धातुओं एवं नी, हृ, कृष् और वह् धातुओं के कर्म के साथ जिसका सम्बन्ध होता है वही अकथित है।[१४]

३. गति, बुद्धि एवं भोजन अर्थ वाली तथा शब्द कर्म वाली अकर्मक धातुओं का अण्यन्त अवस्था का कर्त्ता वह ण्यन्त अवस्था में कर्म हो जाता है, जैसे- गच्छति माणवको ग्रामम्, गमयति माणवकं ग्रामम्, यहाँ माणवकम् कर्म संज्ञक है।[१५]

४. हृञ् तथा कृञ् धातु का अण्यन्त अवस्था का जो कर्त्ता, वह ण्यन्त अवस्था में कर्म संज्ञक विकल्प से होता है। कर्मसंज्ञक न होने पर कर्तृकरणयोः तृतीया (अष्टा.-२/३/१८) से तृतीया विभक्ति हो गई। जैसे- हरति माणवको भारम्, हारयति माणवकं भारम्, हारयति भारं माणवकेन इति वा, यहाँ माणवकेन।[१६]

आचार्य पाणिनि ने अन्य कारकों के अपवादस्वरूप भी कर्म कारक का उल्लेख किया है- सोपसर्ग क्रुध् व द्रुह्[१७], दिव् धातु का साधकतम कारक[१८], अधिपूर्वक शीङ् स्था व आस् धातु का आधार[१९], अभि नि पूर्वक विश् धातु का आधार[२०], उप अनु अधि और आङ् पूर्वक वस् धातु का आधार[२१] भी कर्म संज्ञक होते हैं।

भाव का अर्थ- आचार्य यास्क भाव को आख्यात के अनेक अर्थों में से प्रधानतया स्वीकार करते हैं।[२२] वस्तुतः यहाँ भाव शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में न होकर क्रिया के लिए एक परिभाषित रूप में हुआ है। इस कारण यहाँ भावप्रधान से तात्पर्य क्रियाप्रधान है। इसी कारण यास्क ने इसे व्याख्या में पूर्वापरीभूत से सम्बन्ध किया है।[२३] महाभाष्यकार पतञ्जलि भी स्पष्ट रूप से कहते हैं- क्रियाप्रधानमाख्यातम्[२४]।

कर्मवाच्य एवं भाववाच्य में परिवर्तन-संस्कृत भाषा में क्रिया को सम्पादित करने के लिए दश लकारों का विधान किया गया है- लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ् (विधिलिङ्, आशीर्लिङ्) लुङ्, लृङ्। इन लकारों की सार्वधातुक एवं आर्द्धधातुक संज्ञा होती है।[२५] सार्वधातुक लकार लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्, में ही कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य में विशेष परिवर्तन होता है। कर्तृवाच्य में कर्त्तावाची सार्वधातुक परे रहते धातु से शप् प्रत्यय(विकरण) होता है, जैसे- भवति, भवतु, अभवत्, भवेत्।[२६] कर्मवाच्य एवं भाववाच्य में निम्नलिखित परिवर्तन होते हैं-

१. यक् प्रत्यय एवं आत्मनेपद, जैसे- **भाव**- आस्यते भवता, शय्यते भवता। **कर्म**- क्रियते कटः, गम्यते ग्रामः।[२७]

२. जिस वाक्य में दो कर्म होते हैं अर्थात् दुहादि धातुओं के प्रयोग में कर्तृवाच्य में गौणकर्म में प्रत्यय होता है कर्मवाच्य में इसी कर्म के अभिहित होने से प्रथमा होती है, यथा- माणवकं पन्थानं पृच्छति, माणवकः पन्थानं पृच्छ्यते। तथा नी, हृ इत्यादि धातुओं के योग में प्रधानकर्म में प्रत्यय होता है- अजा ग्रामं नीयते, ह्रियते; परन्तु बुद्ध्यर्थकादि धातुओं के योग में विकल्प से मुख्यकर्म में, पक्ष में- गौणकर्म में भी प्रत्यय होता है- माणवकं धर्मः बोद्ध्यते, माणवकं धर्मं बोद्ध्यते।

३. त परे रहते च्लि के स्थान में चिण् आदेश[२८], जैसे- अभावि, अभाविष्यत, अभविष्यत। अन्य परिवर्तन- युगागम जैसे- अदायि, अदायिषाताम्।[२९] लभ धातु को नुमागम विकल्प से जैसे- चिण्- अलम्भि, अलाभि[३०]। उपधा को विकल्प से दीर्घ, जैसे- शामिष्यते, शमिष्यते, शमयिष्यते[३१]। उपधा को वृद्धि निषेध, जैसे-अशमि, अदमि[३२]। भञ्ज धातु के नकार का लोप जैसे-अभाजि, अभञ्जि।[३३]

४. स्य, सिच्, सीयुट् और तासि परे रहते उपदेश में अजन्त, हन्, ग्रह् और दृश् अंगों को विकल्प से चिण् के समान कार्य तथा इट् का आगम,(चिण् को णित् होने से विभिन्न कार्य होते हैं) जैसे- भविता। भाविष्यते, भविष्यते। भाविषतै, भाविषातै इत्यादि[३४]।

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

५.(यह नियम भाव में न होकर मात्र) कर्मकर्त्ता और अनुताप अर्थ में, तप धातु से च्लि के स्थान पर चिण् आदेश का निषेध करता है, जैसे- कर्मकर्त्ता में- अतप्त तपस्तापस:।[३५]

कर्मकर्त्तृ प्रक्रिया-वैयाकरण कर्मकर्तृवाच्य नामक एक अन्य वाच्य को भी स्वीकार करते हैं[३६] - जब काम के अत्यन्त अच्छे प्रकार होने रूप अर्थ को प्रकट करने के लिये, कर्त्ता का क्रिया करना न कहा जाय, तब अन्य कारक भी कर्त्तृसंज्ञक को प्राप्त होते हैं क्योंकि वे अपने-अपने विषय में स्वतन्त्र हैं और स्वाधीन व्यापारवाले की कर्त्ता संज्ञा होती है। इस कारण पहले करण आदि संज्ञा होती हैं, तथापि उन कारकों के स्वतन्त्र होने से कर्त्तृसंज्ञा होकर उस कर्त्ता में भी लकार होते हैं। करण में कर्त्ता-यज्ञदत्तोऽसिना छिनत्ति, छिन्दतो यज्ञदत्तस्य असि: स्वयमेव छिनत्ति- यज्ञदत्त तलवार से काटता है, काटते हुए देवदत्त की तलवार अपने आप ही काटती है। यज्ञदत्त: काष्ठै: पचति, पचतो यज्ञदत्तस्य काष्ठानि साधु पचन्ति। तथा जब कर्म को कर्त्तृत्व की विवक्षा होती है, तब पहले से विद्यमान सकर्मक धातु भी प्राय: अकर्मक हो जाती हैं और उनसे अकर्मक बनने के कारण भाव वा कर्त्ता में लकार होते हैं। जैसे-भाव- देवदत्त: ओदनं पचति, पचतो देवदत्तस्य ओदनेन स्वयमेव पच्यते। भिद्यते काष्ठेन[३७]। आचार्य पाणिनि ने इनको निम्न सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है-

१. जिस कर्म के कर्त्ता हो जाने पर भी क्रिया वैसी ही लक्षित हो, जैसी कि कर्मावस्था में थी, उस कर्म के साथ तुल्य क्रिया वाले कर्त्ता को कर्मवद्भाव होता है, जैसे- देवदत्त: काष्ठं भिनत्ति, यहाँ देवदत्त कर्त्ता तथा काष्ठ कर्म है। जब वही काष्ठ अत्यन्त सूखा हुआ हो, फाड़ने में कोई कठिनाई न पड़े, तो सौकर्यातिशय विवक्षा में वह कर्म ही कर्त्ता बन जाता है, अर्थात् कर्म की ही कर्त्तृत्व-विवक्षा होती है, जैसे- काष्ठं भिद्यते स्वयमेव, यहाँ लकड़ी स्वयं ही फटी जा रही है। सो ऐसी अवस्था में उस कर्त्ता को कर्म के समान माना जाय, कर्मवद्भाव हो जाय।[३८]

२. सकर्मक तप धातु यदि तप कर्म वाली ही हो तो(अन्य कर्म की न हो तो) उसके कर्त्ता को कर्मवद् होता है जैसे- तप्यते तपस्तापस:, अतप्त तपस्तापस:।[३९]

३. कर्मवद्भाव में कहे हुए कार्यो अर्थात् यक्- प्रत्यय, चिण्, आत्मनेपद, चिण्वद्भाव में से यक् और चिण् कार्य दुह्, स्नु, एवं नम धातुओं को नही होते, जैसे- दुग्धे गौ: स्वयमेव, अदुग्ध गौ: स्वयमेव, अदोहि गौ: स्वयमेव।[४०]

४. प्राचीन आचार्यों के मत में कुष एवं रञ्ज धातु को कर्मवद्भाव में श्यन् प्रत्यय तथा परस्मैपद होता है, जैसे- कुष्यति पाद: स्वयमेव। रज्यति वस्त्रं स्वयमेव। परन्तु अन्यों के मत में- कुष्यते, राज्यते।[४१]

५. अजन्त धातुओं से च्लि के स्थान में चिण् आदेश विकल्प से होता है, कर्मकर्त्ता लुङ् के त प्रत्यय के परे रहते, जैसे- अकारि कट: स्वयमेव, अकृत कट: स्वयमेव।[४२]

६. दुह् धातु से उत्तर च्लि के स्थान में चिण् आदेश विकल्प से होता है, कर्मकर्त्ता लुङ् के त प्रत्यय के परे रहते, जैसे- अदोहि गौ: स्वयमेव, अदुग्ध गौ: स्वयमेव।[४३] परन्तु रुध् धातु के साथ इसका निषेध है, जैसे-अन्ववारुद्ध गौ: स्वयमेव।[४४] तप धातु में भी इसका निषेध है, जैसे- अतप्त तपस्तापस:।[४५]

सारांशत: कहा जा सकता है कि वाच्य-व्यवस्था भाषा की सम्यक् भावाभिव्यक्ति तथा कर्त्ता के विचारों की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक होती है। शोध पत्र में सम्पूर्ण विवरण आचार्य पाणिनि के अनुसार दिया गय है।

सन्दर्भ-सूची:-

१. वैयाकरणभूषणसार-कारिका-१३, वाक्यपदीय-३/३/४७॥
२. अष्टाध्यायी-३/४/६९॥
३. कर्तृकरणयोस्तृतीया। अष्टाध्यायी-२/३/१८
४. स्वतन्त्र कर्त्ता -अष्टाध्यायी-१/४/५४। तत्प्रयोजको हेतुश्च - अष्टाध्यायी-१/४/५५॥
५. अष्टाध्यायी-२/३/४६॥
६. कर्मणि द्वितीया। अष्टाध्यायी-२/३/२॥
७. तिङ्कृत्तद्धितसमासै:, तिङ्-हरि: सेव्यते, कृत्- लक्ष्म्या सेवित:, तद्धित:-शतेन क्रीत: शत्य:, समास:- प्राप्त आनन्दो यम् स:

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

प्राप्तानन्दः।वै.सि.कौ. पृ.-५७॥
८. महाभाष्य-८/१/२८, महाभाष्य-८/१/२८॥
९. महाभाष्य-२/१/१,महाभाष्य-२/१/१
१०. अष्टाध्यायी-२/३/१८
११. कर्त्तुरिप्सिततं कर्म। अष्टाध्यायी- १/४/४९॥
१२. तथा युक्तं चानीप्सितम्। अष्टा.-१/४/५०॥
१३. अकथितं च। अष्टा.-१/४/५१॥
१४. वै.सि.कौ. - कारकप्रकरणम्, पृ.- ७००॥
१५. अष्टा.-१/४/५२॥
१६. हृक्रोरन्यतरस्याम्। अष्टा.- १/४/५३॥
१७. क्रुधद्रुहोरूपसृष्टयोः कर्म। अष्टा.- १/४/३८॥
१८. दिवः कर्म च। अष्टा.- १/४/४३॥
१९. अधिशीङ्स्थासां कर्म। अष्टा.- १/४/४६॥
२०. अभिनिविशश्च। अष्टा.-१/४/४७॥
२१. उपान्वध्याङ्वसः। अष्टा.-१/४/४८॥
२२. भावप्रधानमाख्यातम्। नि.- प्रथम अध्याय॥
२३. पूर्वापरिभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे। नि.- १।९, ११॥
२४. म.भा.- ५/३/६६॥
२५. अष्टा.- ३/४/११३, ३/४/११४॥
२६. कर्त्तरि शप्। अष्टा.- ३/१/६८॥
२७. अष्टा.- ३/१/६७, १/३/१३॥
२८. चिण् भावकर्मणोः। अष्टा.- ३/१/६६॥
२९. आतो युक् चिण्कृतो। अष्टा.- ७/३/३३॥
३०. विभाषा चिण्णमुलोः। अष्टा.- ७/१/६९॥
३१. चिण्णमुलोदीर्घोऽन्यतरस्याम्। अष्टा.- ६/४/१३॥
३२. अष्टा.- ७/३/३४॥
३३. भञ्जेश्च चिणि। अष्टा.- ६/४/३३॥
३४. अष्टा.- ६/४/६२॥
३५. तपोऽनुतापे च। अष्टा.- ३/१/६५॥
३६. वै.सि.कौ. - कर्मकर्तृतिङ्प्रकरणम्,पृ.-२७०
३७. आख्यातिक-म.द.स.पृ.-४१६॥
३८. अष्टा.- ३/१/८७, व्याख्या- प्रथमावृत्ति॥
३९. तपस्तपः कर्मकस्यैव। अष्टा.- ३/१/८८॥
४०. न दुहस्नुनमां यक्चिणौ। अष्टा.- ३/१/८९॥
४१. अष्टा.-३/१/९०॥
४२. अचः कर्मकर्तरि। अष्टा.- ३/१/६२॥
४३. दुहश्च। अष्टा.- ३/१/६३॥
४४. न रुधः। अष्टा.- ३/१/६४॥
४५. तपोऽनुतापे च। अष्टा.- ३/१/६५॥

-विशिष्ट संस्कृताध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली- ६९

मुक पशुओं की ओर से मनुष्यों के प्रति अपील

'हे धार्मिक सज्जन लोगों! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते? हाय! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय, बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिए ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम हम को देख के राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं कि देखो! हमको बिना अपराध बुरे हाल से मारते हो और हम रक्षा करने तथा मारने वालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिए उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते। देखो हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिए है और हम इसलिए पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें। हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते, नहीं तो क्या हम में से किसी कोई मारता, तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारने वाले को न्याय व्यवस्था से फाँसी पर न चढ़वा देते? हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नहीं होता और जो कोई होता (भी) है, तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं।

- स्वामी दयानन्द सरस्वती (गोकरुणानिधि)

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

यज्ञे मिथ्यापशुहिंसा

❑ गौरवार्यः...✍

“**अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त- पुरुषार्थः**”[१] सूत्रमेतद् प्रतिपादयिताऽध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःख-त्रयाभिघातरूपमोक्षः पुरुषपरमप्रयोजनत्वेन प्रतिपादितो मुनिना। अतः सोऽधिगन्तव्यः। कस्मात्?सर्वोऽप्ययं संसारः खलु दुःखेन पीड्यमानस्तज्जिहासन् सुखमभीप्सति। स्वर्गपर्यायः खलु मोक्षशब्दः। तथा च-

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्॥[२]

अत एव हेयभिन्नस्वर्गोऽधिगन्तव्य इति सिद्धम्। कश्चात्रोपायः स्वर्गप्राप्तौ? यज्ञः। कुतः? **ईजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्**[३], **तरांसि यज्ञा अभवन्**[४], **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**[५], **सर्वैर्वै छन्दोभिरिष्ट्वा देवाः स्वर्गं लोकमजयन् तथैवैतद्यजमानः सर्वैश्छन्दोभिरिष्ट्वा स्वर्गलोकं जयति**[६] तान्येतावन्ति प्रमाणानि प्रकीर्तितानि। “**प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा**”[७] इति शिष्टवचनात्। कोऽयं पुनर्यज्ञः? “**प्रख्यातंयजतिकर्मेति नैरुक्ताः। याञ्चो भवतीति वा। यजुरुन्नो भवतीति वा।**”[८] इत्युक्ते यजनमेव यज्ञः। याचनीयो भवति यजूभिरुन्नः क्लिन्नो भवति वेति यज्ञः। “यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु” इति भ्वादिगणस्थोभय-पदिना धातुना साध्यः। त्रयोऽप्येतेऽर्थाः किलाधियज्ञमपि प्रवर्तनीयाः यज्ञञ्च स्वाधीनमपि कर्तुं शक्याः। तद्यथा यज्ञोऽग्निहोत्रम्। तत्र “अग्नये स्वाहा” इत्यादिभिः श्रुतिभिर्देवपूजा, यज्ञवर्तिनाञ्चाभ्भविर्भुजाङ्गणा अस्माना-श्रयन्त्विति संगतिकरणं, देवेभ्यः हविर्दानेन च दानमित्यधि-यज्ञाः त्रयोऽप्यर्थाः। पुनः वैपरीत्येन देवपूजनं यज्ञः, अपास्ताज्ञानावाप्तेशात्मप्रधानभेदरूपविवेकख्यातिविदां विदुषां संगतिकरणमपि यज्ञः, सद्धर्मशास्त्राख्यातविद्वद्भ्यः धर्म-कर्मासक्तभिक्षुकेभ्यो वा तद्तद्दीयमानपदार्थोचितजनेभ्यो वा निःस्वार्थत्वेन दानमपि यज्ञ इति प्राग्भिरुच्यते। कश्चात्र भवतः प्रतिज्ञात विषयः? अग्निहोत्रम्। अस्तु तावद्धवनीयं तेन च स्वर्गप्राप्तिरिति नास्त्यत्रान्तराय इति चेत् न, तत्र संशयापत्तेः। अनल्पसंशयकारिणो हि दार्शनिकाः यागतोऽपवर्गाधिगमे। तत्र-

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥[९]

इत्यनेन ज्ञानेन्द्रियस्थिरीकरणं परमगतिः मोक्ष इति स्फुटम्। पुनः “**तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम्**”[१०] इत्यनेन ज्ञानेन्द्रियस्थिरतैव योगः इत्युक्तम्। तस्मात् योगतोऽपवर्ग इति योगिनः। “**तत्वज्ञानान्निःश्रेयसा-धिगम**”[११] इति नैय्यायिकाः। “**व्यक्ताव्यक्तविज्ञानात्**”[१२] मुक्तिरिति सांख्याः। अत्र च प्रकृतसंशयकारिष्वग्रगण्याः सांख्याः। तैरुदीर्यते-“**दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धि-क्षयातिशययुक्तः**”[१३] इति। अहो! शोकविषयोऽयं यद्योयज्ञः शास्त्रेषु श्रेष्ठतमकर्मत्वेनोद्घोष्यते चिरन्तनैः सः विशुद्धियुक्त इत्युक्त्वा जनजुप्साविषयोऽक्रियताचार्यैरिति। का चासावशुद्धिरस्ति? पशुहिंसा। एवं किल श्रूयते पुरा कैश्चिद्धिंसकवृत्तिभिरामिषलोलुपैर्त्र्यृत्विजैर्यायजूकैर्हिंसाऽचीकरत मखेषु स्वदोषरिरक्षिषुभिः।ते च पृष्टप्रमाणाः श्रुतिमाश्रयन्ते। यतोहि “**धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः**”[१४] इति प्रसिद्धमेव। अतस्ते “**होता यक्षदग्निं स्वाहाज्यस्य०**”[१५], “**साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान्०**”[१६] “**अग्निषोमीयं पशुमालभेत**”, “**न त्वेवामांसोऽर्घः स्यात्**”[१७],“**अधियज्ञमधिविवाहं कुरुतेत्येवं ब्रूयात्**”[१८] इत्यादीनि प्रमाणानि प्रस्तुवन्ति। तत्र प्रथमे प्रमाणे प्रस्तुतमन्त्रस्योव्वटमहीधरप्रभृतिभिराचार्यैरनर्थक-श्रुतिविरुद्धभाष्यत्वात्,द्वितीये चाथर्ववेदीयनवमकाण्डस्थाशेष-चतुर्थसूक्तस्योत्था- निकास्थसायणवचोभिर्यत्- “ब्राह्मणो वृषभं हत्वा तन्मांसं भिन्न-भिन्नदेवताभ्यो जुहोति। तत्र वृषभस्य प्रशंसा तदङ्गानां च कतमानि कतमदेवेभ्यः प्रियाणि भवन्ति तद्विवेचनम्। वृषभबलिहवनस्य महत्वं च वर्ण्यते। तदुत्पन्नं श्रेयश्च स्तूयते”। इत्यादिभिः, परे आलम्भपदस्य मारणार्थकप्रयोगत्वात्, अपरे च पारस्करवचनात् तेषां वचनं पुष्टमिव संल्लक्ष्यते। असदर्थे उत्प्रेक्षा। ते च “वैदिकी हिंसा

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

हिंसा न भवति'' इत्येवमुच्चारयन्त स्वप्रयोजनं सिद्धयन्ति। एभिरेव हेतुभिर्प्राप्तावसरा ईश्वरकृष्णादयः सांख्याः यज्ञं विशुद्धयन्वितत्वेन दूषयितुमभवन् प्रभवाः। ईदृशामेव प्रसादेन बौद्ध नामापर सम्प्रदायः। इदानीं निर्णयः कर्त्तव्यः हिंसा युक्ता न वेति। यास्काचार्यः यज्ञस्यापर नाम अध्वरं स्मरति, तस्य निर्वचनञ्च-''**अध्वर यज्ञ नाम। ध्वरति हिंसाकर्मातत्प्रतिषेधः**''[१९] एवं करोति। अतः नाम्नैव हिंसारहिताः यज्ञाः इति सिद्धम्। पुनः''होता यक्षदग्निं स्वाहाज्यस्य०'' इति ऋचः महीधरोव्वटादीनां भाष्यं ''**या हिंसीः पुरुषं जगत्०**''[२०], ''**मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः०**''[२१], ''**इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्**''[२२] इत्यादिश्रुतिवाक्यैर्विरोधादमान्यम्। अस्य मन्त्रस्य दयानन्दीयभाष्यं द्रष्टव्यम्।

तत्राध्युत्तमब्रह्मचर्यविषयं मेदस् शब्दस्य श्लक्ष्णपदार्थः, मोक्ष शब्दस्य दुःखछेदनं, मेष शब्दस्य सेचनकर्ता, ऋषभस्य श्रेष्ठनरः, इत्यादयोऽर्थाः विहिताः यस्मात्श्रुतेरविरोधत्वादुपादेयाः। अत्र हिंसा परिहारः। पुनरथर्ववेदे नवमकाण्डे चतुर्थसूक्ते प्रथमद्वितीयमन्त्रयोर्यदुक्तं यत्- ''साहस्त्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्। भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्त्रियस्तन्तुमातान्।।'' **अपां यो अग्ने प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी। पिता वत्सानो पतिरघ्न्यानां साहस्त्रेपोषे अपि नः कृणोतुः॥**

अत्र यः पयःपूरितघटसहस्रप्राप्तिहेतुः यश्च वत्सतन्तुं वर्धयितुं प्रभुः, यश्चाघ्न्यानां गवां पतिः तस्यानडुहः यागे छित्वा हुतेनानडुहा कथं साम्यमिति सायणबोधगम्यः। पुनः ''अग्निषोमीयं पशुमालभेत'' इत्यत्र कैश्चिद्विपश्चिद्भिरालभेतेति क्रियापदस्य हननमर्थः स्वीकृतः। स च प्रयोजनपूरकत्वादमान्यः। यतोहि पारस्करगृह्यसूत्रेऽर्घविधौ ''**आचान्तोदाय शासमादाय गौरिति त्रिः प्राह। प्रत्याह। माता रूद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्रनुवोचञ्चिकितुषे जनाय मामामनागमदितिं वधिष्ट। मम चामुष्यं च पाप्मानं हनोमीति यद्यालभेत।**''[२३] इत्यत्र ''आलभेत'' इति क्रियापदस्यापि मारणार्थः स्वीकृतः यत्स्वीकृतौ वदतोव्याघातदोषापत्तिराचार्यवचनेषु। पूर्वमुक्तमेषा गौ रूद्राणां माता, वसूनां दुहिता, आदित्यानां स्वसा, अमृतस्य नाभिः, अतः गां मा वधिष्ट इति, पुनः कथयति यदालभतेऽर्थाद्धन्तीत्यतः वदतोव्याघातः। स च मा भूदृषीणामिति भाष्यकाराणामत्र प्रमादः न तु ऋषित्रुटिः। नेति चेत्- ''**शुनं सुफाला इति कृषेत् फालं वाऽऽलभेत**''[२४], ''**अथास्यै दक्षिणां समिधहृदय-मालभते**'[२५] ''**अथास्यै दक्षिणाम्...**'[२६] इत्यादिषु सप्तपद्युपनयनादिषु सतोरपि हृदयादिपदयोर्कथं हननत्वा-प्रसङ्गः। अस्त्विति चेत् न, अव्यवस्थाव्यभिचाराधर्मत्व-प्रसङ्गात्। यदि नाम प्राप्तकृषिकर्मकालकृषक ''आलभते'' पदस्य हननं त्रोटनं वाऽर्थ कृत्वा फालं त्रोटयेत् चेत् फालाभावे कृष्यभावः यत्सिद्धावन्नादिनां नानाविधपुष्टिवर्धक-पदार्थानामभावाज्जनाः यत्किमपि संप्राप्य भक्षयिष्यन्तीत्य-व्यवस्था। सप्तपदी कृत्येऽपि तस्य पदस्य हननमर्थः क्रियते चेत् प्रतिवधूमरणप्रसङ्गात् न जनकः दुहितायाः पाणिग्रहणं कारयिष्यति येन व्यभिचारापत्तिः। उपनयनाऽवसरेऽपि तस्य पदस्य हननमर्थं यदि क्रियते चेन्न कोऽपि कारयिष्यति स्वतनयोपनयनमिति संस्कारहानेरधर्मसिद्धिः। अतः सत्यपि सर्वथाऽलभते क्रियायाः स्पर्शार्थे गौमेषादिपशुप्रसङ्गे कथं हननमर्थः इति विदाङ्कुर्वन्तु विद्वांसः। यच्चोक्तं ''न त्वेवामांसोऽर्घः स्यात्'' तद्वेदविरुद्धत्वादप्रमाणिकः दयानन्दोक्तदिशा। कश्चात्रप्रसङ्गः पशुबलौ? पशुयागाः। एवं किल श्रूयते पुरा कृतपशुयागसङ्कल्पजनाः बभूवुः। तैश्च पशूनां केचन् विधय अक्रियन्त। तत्र-''**उपाकरणम्, उपानयनं, श्लक्ष्णयाबन्धनं, यूपनियोजनं, संज्ञपनं, पर्यग्निकरणं, विसर्जनम्**''[२७] इत्येवमादयः। तत्रोपकरणं-पशोरङ्गेषु तैलादिभिर्मर्दनं दर्भस्पर्शो वा। उपानयनं- यज्ञशालां प्रति प्रापणम्। श्लक्ष्णयाबन्धनं- तस्य श्रृङ्गग्रीवापादादिषु श्लक्ष्णदाम्ना निबन्धनम्। यूपनियोजनं- यूपे निबन्धनम्। यूपो नाम पशुबन्धनार्थं यज्ञपदार्थविषेशः दारुनिर्मितः। संज्ञपनम् - अत्र शङ्का भवति **ज्ञा मारणतोषणनिशामनेषु**[२८] इत्यर्थत्रये सति कोऽर्थोऽधिक्रियेत? पुरा किल ज्ञा धातोः तोषणनिशामनावर्थौ प्रसिद्धावास्ताम्। तत्र तृणादिदानेन पशोस्तुष्टीकरणं तोषणम्। दर्शनञ्च निशामनमिति। अर्थात्

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm

तृणादिप्रदानापहृतबुभुक्षां पशुमवलोकयन्ति स्म यत् स्वस्थो वाऽस्वस्थो वेति। स्वस्थाय पुस्कारः दीयते स्म रोगिणे चोपचारः। पुनः पर्यग्निकरणम्- दर्भादिषु तृणेष्वग्निं नियोज्य तद्धूमेन परितः युञ्जन्ति स्म येन दंशमषकादयो तं न बाधेरन्। उपरोक्तमपि चिकित्सार्थम्। विसर्जनम्- पुनः वसति प्रापणम्। एतेषु विधिषु कैश्चित्प्रवृद्धबुद्धितत्वैरुज्झितविवेक-विपश्चिद्भिरेकः "विशसन" नाम विधिरपि नियोजितः संज्ञपनान्तरम्। विशसनञ्चाहवनीयस्य गोरन्यस्य च पशोरङ्गान्युच्छिद्य देवेभ्यः तैर्जुहोति यजमानः। पशुयागोपयोगिपशूनां विभागत्रयम्- अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुबन्ध्यश्च। तत्राग्नीषोमीयः- अनडुहः। सवनीय- अजा, मेष इत्यादयः। अनुबन्ध्य- गौरश्वादयः। तत्र च ये विशसनमामनन्ति ते पूर्वोपपादितस्य संज्ञपनस्य मारणार्थं स्वीकुर्वन्ति। ततः प्रभृतिरेव ज्ञा धातो मरणार्थं प्रचलितः। किन्त्वनवधेयवचना हि ते ये विशसनं प्रतिपादयन्ति अविवेकित्वात्। कुतश्चायमविवेकित्वं प्रतिपादितं भवता तेषु? विधिविरोधात्। विवेकहीनाः ही ते ये नैवं विचारयन्ति यत् कृतविशसनस्य पशोः पर्यग्निकरणं, विसर्जनञ्च कथं साध्यमिति। अतः स्पष्टमेतद्यत् विशसनविधिः प्रक्षिप्तस्तत्र। हिंसारहिताः यज्ञा इति सिद्धं श्रुतेः। यच्चोक्तम्- "क्षयातिशययुक्त" इति। तदपि न युक्तम्। यतः क्षयशीलः मोक्षः न तु सार्वकालिकः। स च तत्वज्ञानादपि सावधिः यागतोऽपि सावधिश्च। समकालिकावधिश्चोभयोरपि। अतः नास्ति पृथक् क्षययुक्तः। नापि फलातिशययुक्तः। यतः यज्ञस्य परमफलं स्वर्गः। ये च राजसूयाश्वमेधादयो यज्ञाः ते तु राजविशेषादिभिर्विशेषप्रयोजनाय कार्याः न तु सर्वगाः। अतस्ते-ते यज्ञविशेषास्तद्तद्विशेषप्रयोजनसाधकाः। स्वर्गप्राप्तौ तु **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'**[२९] इत्यादिभिर्वाक्यैः विशेषयागविधानः न तु सर्वेषाम्। यतोहि स्वर्गप्राप्तौ तु सर्वेऽपि सामान्यतया साधका सहायकाश्च यागत्वात् किन्तु राजसूयवाजपेयचातुर्मास्यादायो हि प्रयोजनविशेषप्रतिपादकाः। अतः नाऽस्ति यज्ञोऽतिशय-युक्तः। इत्यनेनोपर्युक्तविवेचनेन "दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः" इतीश्वरकृष्णोक्तमपास्तम्। अत एव पौराणिकाचार्यैमहीधरप्रभृतिभिर्या याज्ञिकीहिंसा विहिता साऽमन्तव्येति। सर्वैरपि मनुजैर्होतव्यम्। तथा चोक्तम्-**एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्। जरया ह वा एतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा।**[३०] अतः यज्ञः कर्तव्यः। इत्यत्रामीमांस्यत यो यज्ञविषय सर्वोऽपि ग्राह्योऽत्र विद्वत्प्रसादाद्या च त्रुटयस्ता ममाल्पज्ञस्येति क्षम्योऽहं विद्वद्भिरिति शम्।

प्रमाणम्-

१. सांख्यदर्शनम्-१/१
२. सां.कौ.-२
३. अथर्व.-१८/४२
४. अथर्व.
५. ता.ब्रा.-१६/२/३
६. ऐत.ब्रा.-२/३
७. न्या.द. वात्स्यायनभाष्यम्-१
८. निरुक्त-3/४
९. कठो.उ.-२/३/१०
१०. कठो.उ.-२/३/११
११. न्या.द.-१
१२. सां.का.-२
१३. सां.का.-२
१४. मनु.-1/132
१५. यजुर्वेद-21/40
१६. अथर्व.-९/४/१
१७. पा.गृ.-१/३/२९
१८. पा.गृ.-१/३/२९
१९. निरुक्त-१/८
२०. वाज.सं. अथर्व.-१६/३
२१. अथर्व.-१०/१/२९
२२. वा.सं. अथर्व.-१३/४७
२३. पारस्करगृह्यसूत्रम्
२४. पारस्करगृह्यसूत्रम्-२/१३/४
२५. पारस्करगृह्यसूत्रम्-१/८/८
२६. पारस्करगृह्यसूत्रम्-२/२/१६
२७. मीमांसाभाष्यम्।
२८. भ्वादिगण-५५१
२९. मैत्र्युपनिषद्।
३०. शतपथब्राह्मणम्-१२/४/१/१

गुरुकुलपौन्धा,
देहरादूनस्थम्, (उ.ख.)-२४८००७

This document is created by GIRDAC PDF Creator Pro trial version
GIRDAC PDF Creator Pro full version does not add this green footer
Full version can be ordered from http://www.girdac.com/Products/Buy.htm